प्रगतिशील आलोचना को रांगेय-राघव का योगदान

(एम0 फिल0 उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशक :

डा० एस० पी० सुधेश

एसोशिएट प्रोफेसर

शोधछात्रा :

सावित्री

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

1991

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

दिनांक : 19.7.1991

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि सावित्री द्वारा प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध "प्रगतिशील आलोचना को रांगेय राघव का योगदान" में प्रस्तुत सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्व-विद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है । यह सर्वथा मौलिक है ।

अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

[एस॰पी॰ सुधेश]
[illegible] एसोसिएट प्रोफेसर
शोध निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

1991

भूमिका

शोध का विषय है "प्रगतिशील आलोचना को रांगेय राघव का योगदान" । प्रश्न उठ सकता है कि प्रगतिशील आलोचना क्या है ? तथा क्या प्रगतिशील आलोचना को विकसित करने में डॉ॰ रांगेय राघव का ही एक मात्र सहयोग है ?

वस्तुत: प्रगतिशील आलोचना आलोचना की एकमात्र ऐसी पद्धति है जो साहित्यिक कृति एवं कृतिकार का पूर्ण मूल्यांकन प्रस्तुत करने का दावा कर सकती है । यूँ तो आलोचना की कई एक पद्धतियां साहित्य जगत् में प्रचलित हैं । किन्तु किसी में यदि साहित्य के कला पक्ष पर बल दिया जाता है तो किसी में भावपक्ष पर । साहित्य की विविध विधाओं के विकास एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों के परिवर्तन से आलोचना के प्रतिमानों में भी परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया था । प्रगतिशील आलोचना समय की आवश्यकता के अनुरूप विकसित की गई ऐसी आलोचना पद्धति है जिसमें साहित्य के कला पक्ष एवं भाव पक्ष पर सन्तुलित रूप से बल दिया जाता है । शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय "प्रगतिशील आलोचना का आशय" में प्रगतिशील आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करने की कोशिश की गई है । प्रगतिशीलता और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित प्रगतिवाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रगतिशील आलोचना की परम्परा का वर्णन किया गया है । प्रगतिशील आलोचना कोई जड़ आलोचना पद्धति नहीं अपितु निरन्तर परिष्कृत होती हुई आलोचना पद्धति है । जिसके विभिन्न विद्वानों ने अपना-अपना सहयोग प्रदान किया है । प्रथम अध्याय के तृतीय उपभाग में विद्वानों के योगदान को रेखांकित करने करने का प्रयास किया गया है ।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में प्रगतिशील आलोचना के तत्वों पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया गया है कि प्रगतिशील आलोचना अन्य आलोचना पद्धतियों से किस प्रकार भिन्न है । समाज और साहित्य के परस्पर सम्बन्ध को प्रगतिशील आलोचना किस रूप में स्वीकार करती है । इतिहास बोध की इस आलोचना में क्या अहमियत है । वैज्ञानिक यथार्थ-दृष्टि तथा साहित्य में यथार्थ-बोध का किस रूप में प्रयोग किया जाना है । प्रगतिशील आलोचना की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए उसके तत्वों का उल्लेख है ।

तृतीय अध्याय में डॉ॰ रांगेय राघव की आलोचनात्मक कृतियों के हवाले से उनकी आलोचना में साहित्य और समाज के सम्बन्ध, साहित्य की नवीन अवधारणा एवं नए प्रतिमानों का उल्लेख है । इस अध्याय में आलोच्य आलोचक की आलोचना को ही मुख्य आधार बनाया गया है । डॉ॰ राघव की उन सभी मौलिक उद्भावनाओं को रेखांकित किया है जिनके कारण उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण का पता चलता है तथा अन्य आलोचना पद्धतियों की अपेक्षा जिनसे प्रगतिशील आलोचना पूर्ण आलोचना पद्धति होने का दावा करती है ।

चतुर्थ अध्याय डॉ॰ राघव की आलोचना में उनके यथार्थ-बोध, यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण एवं यथार्थ बोध के विविध रूपों को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ राघव के मानवतावादी यथार्थ-बोध का वर्णन है । इसी अध्याय में डॉ॰ राघव के प्रगतिशील दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए मार्क्सवाद के प्रति डा॰ राघव के असन्तोष को भी वर्णित किया गया है । क्योंकि डा॰ राघव मार्क्स से प्रभावित होकर भी मार्क्सवाद के अन्ध अनुयायी आलोचक नहीं थे । वे तो प्रत्येक चीज को तर्क की कसौटी पर कस कर ही अपनाते थे ।

शोध के अन्तिम अध्याय को उपसंहार का रूप दिया गया है जिसमें डा॰ राघव के प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण प्रगतिशील आलोचना को मिले बल का वर्णन करते हुए उनके महान् योगदान का उल्लेख करते हुए डॉ॰ राघव एवं अन्य विद्वानों के साथ उनके मतभेदों का भी वर्णन है । क्योंकि डॉ॰ राघव को अपने जीवन काल में ही अन्य प्रगतिशील आलोचकों के अनेक आक्षेपों का न केवल सामना करना पड़ा था बल्कि अपनी प्रतिभा का व्यय उनके आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत करने में भी करना पड़ा था जैसे कि श्री राजेन्द्र सिंह, रामविलास शर्मा तथा मुरली मनोहर प्रसाद सिंह आदि के द्वारा उनपर आरोप लगाए गए थे ।

अप्रैल जून अंक की आलोचना पत्रिका में मुरली मनोहर सिंह ने लिखा कि सन् 1952-53 के आस पास हिन्दी में एक स्थिति यह आयी कि राजनीतिक प्रगतिशीलता साहित्य में जब साहित्येतर बातों को प्राधान्य देने लगी तब निश्चय ही कुछ साहित्यकारों के मन में इस राजनीतिक प्राधान्य के प्रति एक मूलभूत शंका उत्पन्न हुई कि जीवन की अनेक स्थितियों चरित्रों एवं विधाओं का निषेध कर एक सर्वमान्य साधारणीकृत मानव और उसके समाज के स्वरूप को वास्तविकता से हटकर स्वीकार कर लेने पर क्या, साहित्य अपनी चारित्रिक विशेषता नहीं खो देगा । ठीक इसी प्रकार की आलोचना प्रगतिशील आन्दोलन के प्रतिक्रान्तिकारी गिरोह की तरफ से भी हो रही थी । रांगेय राघव की पुस्तक "प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड से यह बात स्पष्ट हो जाएगी ।"

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह जैसे विद्वानों ने बिना विचार किए ही उनके लिए "प्रतिक्रांतिकारी" और गद्दार जैसे विशेषणों का प्रयोग किया । किन्तु दूसरी ओर विश्वनाथ त्रिपाठी ने आलोचना के उसी अंक में मुरली मनोहर जी के निर्णय पर टिप्पणी करते हुए उनके निर्णय को "काफी जल्द-

बाजी में लिया गया विचार बताते हुए उनके उन कार्यों पर ध्यान देने की ओर इशारा किया जिन्होंने "प्रगतिशील लेखक संघ" को संगठित होने में मदद पहुँचाई ।

जिस विद्वान के जीवन काल में ही इस तरह के आरोप एवं आक्षेप लगाए जाते रहे हों भला उसकी मृत्यु के उपरान्त कौन उनके योगदान को मानने लगा ! शायद यही कारण है कि विपुल आलोचनात्मक ग्रंथों के रचयिता डा॰ राघव के आलोचना कर्म पर आज तक एक भी शोध-कार्य किसी भी विश्वविद्यालय में नहीं हुआ है । मैंने स्वयं "शोध-प्रबंध" के दोनों भागों का अध्ययन किया जिनमें 1990 तक के स्वीकृत शोध प्रबन्धों का संकलन है किन्तु बहुत दु:ख हुआ कि आजतक डा॰ राघव के आलोचना कर्म को किसी भी शोधार्थी अथवा शोध संस्थान ने महत्व नहीं दिया । जबकि अपनी-2 आलोचनात्मक कृतियों, लेखों, शब्दकोशों में डा॰ राघव को, उनकी आलोचनात्मक कृतियों के उद्धरणों को सभी उद्धृत करते रहे हैं । श्री रविन्द्र श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक "प्रगतिशील आलोचना । रणजीत जी ने अपने शोध प्रबन्ध "हिन्दी की प्रगतिशील कविता" गौतम जी ने अपने शोध प्रबन्ध तथा आलोचना पत्रिका आदि में भी डॉ॰ राघव के मतों का कभी पक्ष में कभी विपक्ष में हवाला दिया ही जाता रहा है । मगर स्वतन्त्रत्स्प में उनपर मेरा यह प्रथम शोध प्रयास है ।

मेरे इस प्रथम प्रयास को समय-2 पर मेरे शोध निर्देशक डॉ॰ एस॰पी॰ सुधेश ने अपने कुशल निर्देशन से जो परिष्कार एवं परिवर्तन कराए हैं उन्हीं का परिणाम मेरा यह लघु-प्रबन्ध है । नहीं जानती कि अपनी अल्प बुद्धि से विद्वान आलोचक डॉ॰ राघव के योगदान को पूरी तरह स्पष्ट कर पाई हूँ या नहीं । मगर सन्तोष है कि प्रयास तो किया ही है । इस लघु शोध प्रबन्ध को लिखने में मैंने अपने परिवारजनों का जो

सहयोग रहा है उस सबमें मेरे पति, मित्र के सहयोग को कभी नहीं भूल सकूँगी । जर्मनी में रहने वाली मेरी सखी रोजी सिंह, का विशेष आभार मानती हूँ जिसके पत्र ने लघु प्रबन्ध को अन्तिम रूप देने की प्रेरणा दी । टाइपिस्ट श्री यादव जी व अन्य लोगों का सहयोग न मिलता तो शायद यह कार्य कठिन हो जाता ।

सावित्री

— सावित्री

प्रगतिशील आलोचना को रांगेय राघव का योगदान

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन	.....	क - घ
प्रथम अध्याय :	पृष्ठभूमि 1. प्रगतिवाद और प्रगतिशीलता 2. प्रगतिशील आलोचना का आशय 3. हिन्दी में प्रगतिशील आलोचना की परम्परा ।	1 - 22
द्वितीय अध्याय :	प्रगतिशील आलोचना के मुख्य तत्व 1. साहित्य और समाज का सम्बन्ध 2. इतिहास-दृष्टि 3. यथार्थ-बोध	23 - 33
तृतीय अध्याय :	रांगेय राघव की आलोचना में साहित्य और समाज का सम्बन्ध । 1. साहित्य की अवधारणा 2. साहित्य और समाज का सम्बन्ध 3. वर्गीय चेतना और वर्ग संघर्ष	34 - 55
चतुर्थ अध्याय :	रांगेय राघव की आलोचना में उनका यथार्थ बोध । 1. यथार्थ के प्रति दृष्टि 2. यथार्थ के विविध रूप 3. डॉ. राघव का यथार्थ दर्शन	56 - 71

..... क्रमशः

पंचम अध्याय	:	उपसंहार	72 - 86
परिशिष्ट	:	1. आधार ग्रन्थों की सूची	87 - 90
		2. सहायक ग्रन्थों की सूची	
		3. पत्र-पत्रिकाओं की सूची	

.....

प्रथम अध्याय

पृष्ठ-भूमि

§1.1 प्रगतिवाद और प्रगतिशीलता :

हिन्दी साहित्य जगत में "प्रगतिवाद" और "प्रगतिशीलता", शब्दों के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलता है । "प्रगतिवाद" का जन्म हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट सामाजिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि में हुआ था । इसीलिए श्री शिवदानसिंह चौहान "प्रगतिवाद" शब्द को "मार्क्सवादी सौन्दर्य" का पर्याय मानते हैं । उन्हीं के शब्दों में ---

"प्रगतिवाद साहित्य की धारा नहीं है, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है ।"[1] क्योंकि जब "प्रगतिवाद" का जन्म हिन्दी साहित्य में हुआ वह ऐसा दौर था जिसमें "यथार्थ" के नाम पर प्रकाशित कोई भी रचना इस संज्ञा से अभिहित की जाने लगी थी । श्री रवीन्द्र श्रीवास्त के अनुसार ---

"सन् 36 के आसपास से ही साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का जन्म होता है । साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टि को पाठकों तक पहुंचाने का प्रयत्न सर्वप्रथम "हंस" ने अपने कतिपय लेखों, कहानियों एवं कविताओं द्वारा किया ।"[2]

उस समय जब हिन्दी में "प्रगतिवाद" का अभ्युदय हुआ कम्युनिस्ट पार्टी के उद्योग से भारत की जनता "साम्यवाद" के नाम से थोड़ी बहुत

---

1. प्रगतिवाद, साहित्य की समस्याएं - श्री शिवदान सिंह चौहान पृष्ठ-54.
2. प्रगतिशील आलोचना - श्री रवीन्द्र श्रीवास्तव पृष्ठ-179

परिचित हो चुकी थी । किन्तु "साम्यवाद" या "समाजवाद" के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न मत थे । हिन्दी साहित्य कोशानुसार-- "प्रगतिवाद प्रारम्भ में सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया । वह एक साहित्यिक आन्दोलन था, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु "सत्य" को उत्तरछायावादी काल में प्रश्रय मिला ।"[1] प्रगतिवाद के सम्बन्ध में नामवर सिंह का मत है कि --"इसकी मूल प्रेरणा "मार्क्सवाद" से विकसित हुई थी ।[2] मार्क्सीय दृष्टिकोण एवं यथार्थ चित्रण के नाम पर प्रगतिवादी साहित्य में जो प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं उनका आदर्श --प्लेखानोव का कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण था "जिसमें मनुष्य को समाज रूपी तरंगों पर बहता हुआ निष्क्रिय, निरीह एवं स्पंदनहीन काठ का टुकड़ा समझा जाता है ।"[3] या मोयकोवस्की का नारेबाजी का साहित्य जिसमें मनुष्य एवं साहित्य मशीन के कल-पुर्जों की भाँति हिलते हैं ।[4] थे । इस प्रकार की दृष्टि से सम्पन्न साहित्य को "प्रगतिवादी" साहित्य कहा गया । तत्कालीन रचित रचनाओं में निम्न प्रकार की प्रवृत्ति या चित्रण आम बात हो गई थी --

"लाल रूस है ढाल साथियो
सब मजदूर किसानों का ।"[5]

और-

"सब कहते हैं हिन्द देश पर
चढ़ने लगा चीन का रंग ।"[6]

---

1. हिंदी साहित्य कोश भाग-1, पारिभाषिक शब्दावली, सं0 धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-395.
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां - नामवरसिंह पृष्ठ-57
3. आर्ट एंड सोसल लाइफ - जी0वी0 प्लेखानोव
4. मायकोवस्की एन्ड हिज़ पोइट्री, कम्पाइल, एंड ट्रान्सलेटेड बाई हर्बट मार्शल
5. हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद - नगेन्द्र से उद्धृत पृष्ठ-15
6. नया सवेरा - रंजन पृष्ठ-84

इस प्रकार की प्रचारक भावना से ग्रस्त तत्कालीन साहित्य ने प्रगतिवाद को एक विशेष "दार्शनिकवाद" का पर्याय बनाने में योग दिया । इसीलिए आलोचक विद्वानों में "प्रगतिवाद" को लेकर पर्याप्त असन्तोष देखने को मिलता है । "प्रगतिवाद" का विरोध करते हुए "प्रगतिशील" का समर्थन करने की प्रवृत्ति अथवा दोनों में "अन्तर" करने का आग्रह अथवा दोनों को "पर्याय" मानने सम्बन्धी जो विवाद हिन्दी आलोचकों में पैला उसका मूल कारण यही है । क्योंकि आरम्भिक दौर में "प्रगतिवाद" को लेकर साहित्यकारों में विचित्र उलझन-सी थी । कोई इसे मार्क्सवाद का अनुकरण मात्र समझता था तो कोई यथार्थवाद का दूसरा रूप । रवीन्द्र श्रीवास्तव के अनुसार --

"प्रगतिवाद "शिवत्व" को वर्ग संघर्ष की भूमि पर देखने का आग्रह करता है ।"[1]

दूसरी तरफ यथार्थ वर्णन के प्रति अत्यधिक आग्रह के कारण प्रगतिवादी साहित्य अपनी मूल प्रवृत्ति से छिटक कर मात्र यथातथ्य वर्णन का पर्याय बन गया । इसीलिए विद्वानों ने इस पर आक्षेप लगाए --

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा --"उपदेशात्मकता में वे तीस साल पूर्व की ओर बढ़ रही हैं और श्रृंगारिकता में बिहारी लाल से होड़ करती हैं ।"[2]

डा० रामविलास शर्मा ने लिखा --"सन् 1934-35 के बाद से हिन्दी में यह साड़ी जम्पर बढ़ती, फूलती, पनपती रही है ।"[3] प्रगतिवादी साहित्य पर लगाए गए इस तरह के आरोप निराधार नहीं थे । यह सच है कि स्थापनाओं की दृष्टि से प्रगतिवाद मूल रूप से साम्यवादी

---

1. प्रगतिशील आलोचना - रवीन्द्र श्रीवास्तव - पृष्ठ-19.
2. 1940 में पूना में हुए अधिवेशन की साहित्य परिषद से दिए गए भाषण में - नन्द दुलारे वाजपेयी
3. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं - रामविलास शर्मा - पृष्ठ-60

विचारधारा की स्थापना का सशक्त माध्यम था । किन्तु जैसा कि हिंदी साहित्य कोश में कहा गया है कि --

"प्रगतिवाद के लिए देश काल के दायित्व से भी बढ़कर पार्टी का नारा है, संकुचित मन्तव्य की बाह्य अनुशासित अनुभूति है ।"[1]

अन्त में यही कहा जा सकता है कि कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी विचारों से प्रेरित ऐसा साहित्य जो नारेबाजी का अथवा मात्र प्रचार के लिए मजदूर, शोषित वर्ग का हिमायती हो, "प्रगतिवाद" के अन्तर्गत आता है । जबकि इससे सर्वथा विपरीत प्रवृत्ति का साहित्य प्रगतिशील साहित्य है । जैसा कि रवीन्द्र श्रीवास्तव ने लिखा भी है--

"कतिपय आलोचकों ने कम्युनिस्ट पार्टी से प्रभावित एवं उसके संरक्षण में निसृत होने वाले साहित्य को प्रगतिवाद की संज्ञा से अभिहित किया तथा उससे अप्रभावित सम्पूर्ण श्रेष्ठ साहित्य को "प्रगतिशील" साहित्य के नाम से घोषित किया ।"[2]

रवीन्द्र जी का यह मत कुछ संकीर्णता से ग्रसित है । क्योंकि यह ठीक है कि प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवाद या कम्यूनिस्ट पार्टी के संरक्षण में पनपा । किन्तु यह कहना कि प्रगतिवादी साहित्य प्रगतिशील नहीं हो सकता, गलत है । क्योंकि प्रगतिशीलता किसी संकीर्ण मतवाद की पोषक नहीं है । कोई भी रचना प्रगतिशील हो सकती है बशर्ते वह शर्मा जी के अनुसार "प्रगतिशील साहित्य जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य है । इसलिए वह उसकी जातीय विरासत, उसकी साहित्यिक परम्पराओं की रक्षा करने के लिए भी लड़ता है ।"[3]

---

1. हिन्दी साहित्य कोश भाग 2 पारिभाषिक शब्दावली सं0 धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ-396.
2. प्रगतिशील आलोचना - रवीन्द्र श्रीवास्तव पृष्ठ-196
3. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं - रामविलास शर्मा पृष्ठ-25

अर्थात् प्रगतिशील साहित्य यथार्थपरक तो होता ही है साथ ही वह साहित्य भी होता है । मर्मस्पर्शी होना उसकी प्रमुख शर्त है । मानवीय उदारता से सम्पन्न हर रचना प्रगतिशील है जबकि प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक मत से उपजा शब्द है । प्रगतिशीलता किसी राजनीतिक वाद तक सीमित नहीं, साहित्यिक प्रगतिशीलता श्रेष्ठ कृति का एक अनिवार्य गुण है । प्रगतिशीलता केवल आर्थिक प्रगति या सर्वहारा वर्ग के शोषण या क्रांति के नारे मात्र का पर्याय नहीं । विकास मूलक शक्तियों एवं मानववादी प्रवृत्तियों से ही प्रगतिशीलता का निर्माण सम्भव है । प्रगतिशीलता का अर्थ किसी दार्शनिक मतवाद का खण्डन मात्र भी नहीं है । बल्कि यह एक ऐसा सृजन है जिसमें कला अथवा रूप को प्रमुखता न देकर जीवंत तत्वों को महत्व दिया जाता है । प्रगतिशीलता एक निरंतर क्रमिक और स्वाभाविक विकास है जिसका सम्बन्ध परम्परा से भी उतना ही है जितना प्रगति से । प्रगतिशील काव्य की मूलभूत प्रवृत्तियों के अन्तर्गत राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना, सामाजिक यथार्थ दृष्टि, शोषित के प्रति सहानुभूति, समसामयिक चेतना, परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा, मानव की महत्ता का गान, आशा और विश्वास का स्वर आदि तत्व समाहित हैं ।

सन् 1936 में "अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ" के प्रथम अधिवेशन में उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द ने भी साहित्य के लिए निम्न तत्व आवश्यक बताए थे --

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो - जो हममें गति और संघर्ष की बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं ।"[1]

---

1. प्रगतिशील लेखक संघ के लखनउ अधिवेशन में सभापति पद से दिए गए भाषण से उद्धृत । सन् 1936 ।

अतएव प्रगतिशील साहित्य ऐसा साहित्य होता है जो समाज को आगे बढ़ाने, उसमें परिवर्तन लाने अथवा परिणाम में वृद्धि लाने में समर्थ होता है । आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी जी ने सूत्र रूप में प्रगतिशीलता के निम्न मानक सूत्र बताए हैं ---

1. जीवन आस्था 2. परिवर्तन की पहचान और उपचार
3. कलात्मक स्वरूप का नियोजन ।[1]

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न कोई भी रचना चाहे वह किसी भी युग में रची गई हो, किसी भी दार्शनिक वाद की वाहक हो प्रगतिशील साहित्य के दायरे में सहज स्वीकार्य होगी ।

§2§ "प्रगतिशील आलोचना से आशय"

आलोचना शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में रचनात्मक साहित्य के विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन के लिए किया जाता है । "प्रगतिशील आलोचना" शब्द-युग्म नया है । साहित्य के सन्दर्भ में आलोचना का अभिप्रेत साहित्यिक कृति के वस्तुगत सौन्दर्य, भावगत सौन्दर्य और शैलीगत सौन्दर्य का विवेचन करना होता था । हिन्दी आलोचना का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कभी आलोचना के एक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया जाता या कभी दूसरे पक्ष पर ।

"हिंदी को साहित्य शास्त्र रिक्थ में मिला" [2] अत: संस्कृत के पश्चात हिन्दी-आलोचना के प्रथम काल में भी "रस" और "अलंकार" की ही विवेचना हुई । एक समय था जब आलोचना के नाम पर किसी कृति का अध्ययन दो भागों में विभाजित कर किया जाता था । एक पक्ष को

---

1. आधुनिक साहित्य - आ० नन्द दुलारे वाजपेयी - पृष्ठ-335
2. "साहित्य शास्त्र और समालोचना" - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र "आज" 13 जनवरी, 1957.

वस्तु पक्ष एवं दूसरे को कला पक्ष की संज्ञा से अभिहित कर आलोचक अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे । इसके विपरीत एक ऐसी आलोचना जो सामाजिक परिस्थितियों का मूल्यांकन साहित्य में उनका रूपांकन, तथा उसके औचित्य अनौचित्य का विश्लेषण करती हो, कम ही देखने को मिलती है ।

साहित्य को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने का आग्रह प्रगतिशील आलोचना की अपनी विशेषता है । प्रगतिशील आलोचना साहित्य का विश्लेषण सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यक्ति की चेतना पर पड़े सामाजिक प्रभावों के रूप में करती है । सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं पर इन प्रभावों का क्या प्रभाव पड़ा इसका उद्घाटन करती है । साहित्यकार ने समसामयिक परिस्थितियों का अपने साहित्य में कैसा संश्लिष्ट चित्र उकेरा है । अपनी भावना एवं कल्पना शक्ति से इन प्रभावों को ग्रहण कर कैसे साहित्य में रूपायित किया है और उसकी इस अभिव्यक्ति द्वारा समाज में कैसी प्रतिक्रिया हुई इसका मूल्यांकन प्रगतिशील आलोचना द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है ।

श्री चन्द्र बलीसिंह के शब्दों में ---

"प्रगतिशील आलोचना का कर्तव्य है कि वह लेखकों एवं कलाकारों को जनता के निकटतम सम्पर्क में आने को आमंत्रित करे ।"[1]

प्रगतिशील आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह किसी भी रचना का मूल्यांकन करते हुए विशेषता ध्यान दे कि रचनाकार समाज में चलने वाले घात-प्रतिघात से अनभिज्ञ तो नहीं । मात्र कल्पना की दुनिया में विचरण करने का आदि तो नहीं । रचना समाज के यथार्थ से पूर्ण है या नहीं तथा सामाजिक विकास के लिए क्या प्रेरणा स्रोत का काम देगी अथवा नहीं ।

---

1. आलोचना की कुछ समस्याएं और हिन्दी आलोचना - चन्द्रवली सिंह पृष्ठ-181.

इन्हीं सब बातों का ध्यान रखकर की जाने वाली आलोचना ही वास्तव में प्रगतिशील आलोचना है । क्योंकि जैसा कि डा० रामविलास शर्मा ने कहा है कि --

"रस और अलंकार की दृष्टि से जिस साहित्य को श्रेष्ठ माना गया है, वह सदा ही समाज के लिए हितकर नहीं रहा ।"[1]

यह सही है कि साहित्य में रस और अलंकार आदि कला-पक्ष के उपकरणों की उपेक्षा सम्भव नहीं क्योंकि यदि आलोचक साहित्य का आलोचक है तो साहित्य के उन उपकरणों की विवेचना भी उसके लिए आवश्यक हो जाती है जिनके कारण रचना, विज्ञान की वस्तु न बनकर साहित्य की वस्तु बनती है । अतएव प्रगतिशील आलोचना से अभिप्राय ऐसी आलोचना पद्धति से है जिसमें भाषा-शैली, अलंकार-नियोजन, अनुभूति की मार्मिकता आदि पक्षों के साथ-साथ सामाजिक पक्ष पर भी पूर्णत: ध्यान दिया जाता है । सामाजिक यथार्थ पर ध्यान देने का यह अभिप्राय नहीं कि साहित्य के अन्य अंगों की उपेक्षा ही कर दी जाए ।

प्रगतिशील आलोचना न तो किसी मतवाद को लेकर चलती है और न ही किसी की उपेक्षा ही करती है । वह तो साहित्य के विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखती है । साहित्य और समाज के सम्बन्ध को प्रकट करती हुई दोनों के अन्योन्याश्रित रूप को उजागर करती है । यथार्थ-बोध एवं साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति तथा साहित्य द्वारा समाज में गुणात्मक परिवर्तन की पक्षधर है । सार रूप में कहें तो प्रगतिशील आलोचना अब तक की समस्त आलोचना पद्धतियों का मिश्रित रूप है जो प्रत्येक आलोचना पद्धति से कुछ न कुछ ग्रहण कर तथा त्याग कर पूर्ण आलोचना का रूप धारण करने की क्षमता रखती है ।

---

1. प्रगति और परम्परा - डा० रामविलास शर्मा, पृष्ठ - (48-49)

§3§ "प्रगतिशील आलोचना की परम्परा"

हिन्दी आलोचना की परम्परा को कम से कम रीतिकाल तक खींच कर ले जाया जा सकता है । हिन्दी आलोचना को रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथों की परिपाटी विरासत में मिली । किन्तु हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना का आरम्भ भारतेन्दुकाल से ही हुआ । अपने अध्ययन के उपरान्त एवं नन्द किशोर नवल के मतानुसार हम यह स्वीकार करते हैं कि --"हिन्दी आलोचना की मुख्य धारा प्रगतिशील धारा है ।"[1]

हिन्दी आलोचना में प्रारम्भ से ही प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा एवं समसामयिक राष्ट्रीय जागरण की सामाजिक चेतना का योगदान रहा है । क्योंकि कोई भी चिंतन समसामयिक परिस्थितियों से अछूता नहीं रह सकता । अपनी समकालीन परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करती हुई हिन्दी आलोचना धीरे-धीरे प्रगतिशील चेतना का रूप धारण करती है । रवीन्द्र श्रीवास्तव ने "प्रगतिशील आलोचना का विकास-क्रम दिखाते हुए इसीलिए सन् 1936 में "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना के पश्चात प्रगतिशील आलोचना को "एक दृष्टिविशेष के रूप में मान्यता" मिलने की बात स्वीकार की है ।[2]

1936 से पूर्व की आलोचना में वे "प्रगतिशीलता के बीज" दिखाते हैं । वास्तव में वे प्रगतिवादी और प्रगतिशील दोनों को पर्याय के रूप में प्रयुक्त करते हैं । यह भी सच है कि कहीं-कहीं वे मार्क्सीय विचारों के साहित्यिक रूपांकन को "प्रगतिवादी और शेष समस्त श्रेष्ठ साहित्य को प्रगतिशील भी मानते हैं । §देखिए उनकी पुस्तक "प्रगतिशील आलोचना पृष्ठ-196 §

---

1. हिन्दी आलोचना का विकास - नन्द किशोर नवल - पृष्ठ-7
2. प्रगतिशील आलोचना - रवीन्द्र श्रीवास्तव - पृष्ठ-197

यह सही है कि अपने प्रारम्भिक दौर में हिन्दी आलोचना की प्रगतिशील धारा इतनी विकसित नहीं थी किन्तु साहित्य को सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में देखने की प्रवृत्ति बहुत पहले से रही है । इस परम्परा का बीज भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बाल कृष्ण भट्ट, उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी प्रेमधन से होता हुआ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में फलता फूलता गया । आगे चल कर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा, श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री प्रकार चन्द्र "गुप्त", श्री अमृतराय, श्री गजानन माधव मुक्तिबोध और श्री नामवरसिंह ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया है ।

भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य का स्वरूप एक नये साँचे में ढला । काव्य जन-जीवन के निकट आया और गद्य विधाओं का अभ्युदय हुआ । परिणाम स्वरूप काव्यशास्त्र से भिन्न प्रगतिशील आलोचना का उदय हुआ । भारतेन्दु-युगीन समीक्षा आचार्य वाजपेयी के शब्दों में --

"हिन्दी नवीन प्रयोग कालीन समीक्षा है ।"[1]

भारतेन्दु काल में पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आने से एक मध्यवर्गीय जनवादी संस्कृति का विकास हो रहा था । दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से आलोचना ने नवीन मार्ग ग्रहण किया । "पुस्तक-समीक्षा" द्वारा आलोचना की परम्परा चौधरी बदरीनारायण "प्रेमधन" और पं० बालकृष्ण भट्ट ने स्थापित की । भट्ट जी ने §1844-1914§ "हिन्दी प्रदीप" में लिखा --"साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है ।" इस लेख से उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण का स्पष्ट आभास मिलता है । "सच्ची कविता" शीर्षक लेख में कविता को बन्धन-मुक्त करने के उद्देश्य

---

1. नया साहित्य : नये प्रश्न - आ० नन्ददुलारे वाजपेयी पृष्ठ-24

से उन्होंने लिखा --"एक बार यह नियम कर लिया जाए कि जिस समय में जो भावना मन में उठे उसी पर काव्य किये जाएं और नियम बद्ध होने की कैद उठा दी जाए - देखिये कितनी स्वच्छंद अनुठी और नई कविता होती है ।"[1]

पं० बदरी नारायण चौधरी "प्रेमधन" (1888-1923) : ने "आनंद-कादम्बनी" के एक अंक में "कादम्बरी" की प्रशंसात्मक एवं "बंगविजेता" अनुवादक बाबू गदाधरसिंह की आलोचना की । लाला श्री निवास दास द्वारा लिखित "संयोगिता स्वयंवर" की समीक्षा भी उन्होंने की । अपने लेख "दृश्य, रूपक व नाटक" में उन्होंने लिखा कि --"नाटक छोटे-छोटे विषय को लेकर लिखा जा सकता है बशर्ते उसमें नाट्य सम्भावनाएं हों ।" रीतिकालीन कवियों पर आक्षेप करते हुए उन्होंने विचार व्यक्त किया कि -"यह दोष रस का नहीं है वरन्च कवि का होता है ।"[2] रस के संबंध में यह अत्यन्त सुचिन्तित दृष्टिकोण है । श्रृंगार रस अपने आप में बुरा नहीं, बुरा है कवियों द्वारा किया गया उसका उपयोग । प्रेमधन जी "साहित्य को नये युग की आवश्यकता की पूर्ति का साधन मानते हैं । और साहित्यकारों को नवीन दायित्व को वहन करने के लिए प्रेरित करते हैं ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - ने नए युग की मांगानुसार सन् 1883 ई० में अपना प्रसिद्ध लेख जिसमें नाटक के स्वरूप को उद्घाटित किया गया है -- "नाटक अथवा दृश्य काव्य" शीर्षक लिखा । इसकी सामग्री उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के ग्रन्थों से ली । परन्तु अपना दृष्टिकोण उन्होंने न तो प्राचीनतावादी रखा न नवीनतावादी बल्कि उनके दृष्टि-कोण को "प्रगतिशील" नाम देना अधिक उपयुक्त होगा । उन्होंने लिखा--

---

1. हिन्दी आलोचना का विकास - नन्दकिशोर नवल पृष्ठ-22 से उदधृत
2. प्रेमधन सर्वस्व द्वितीय भाग ।

"प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मत-पोषिका होगी वह सब ग्रहण होगी ।... पूर्व काल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु काल की आलोचना अपनी पूर्ववर्ती आलोचना से भिन्न एक नवीन दृष्टिकोण को अपना रही थी । रविन्द्र श्रीवास्तव के शब्दानुसार इस युग में --

"बदरी नारायण चौधरी "प्रेमधन" भारतेन्दु एवं बालकृष्ण भट्ट की प्रौढ़ साहित्यिक समीक्षाएं थी । लेकिन इस तथ्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि प्रत्येक के मूल में सामाजिकता का प्रश्न जुड़ा हुआ था । सुरुचि, नैतिकता एवं राष्ट्र-प्रेम की भिति पर आधारित कृति के समाजोपयुक्त ग्रहण-त्याग की विवेचना ही उस समय की साहित्यिक-समीक्षा का प्रधान लक्षण था ।"[2]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) : भारतेन्दु युगीन आलोचनामें राष्ट्रीयता को प्रश्रय दिया गया । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इन गुणों को अधिक तीव्रता से विकसित किया । आलोचना में सामाजिकता का प्रश्न जुड़ा रहा परन्तु उसका स्वरूप भारतेन्दु युग से भिन्न था । आलोचना में गंभीरता और प्रौढ़ता आई । उन्होंने आलोचक के रूप में लोकहित और उपयोगिता पर बल दिया । गम्भीर उद्देश्य, नवीन शैली और निर्दोषिता के पक्षपाती होने के कारण समाज-सुधार और उत्थान की भावना उनमें प्रमुख थी ।

---

1. हिन्दी आलोचना का विकास - नन्द किशोर नवल पृष्ठ-17 से उद्धृत ।
2. प्रगतिशील आलोचना - रविन्द्र श्रीवास्तव पृष्ठ-27.

1903 ई० में "सरस्वती" के सम्पादक नियुक्त होने पर तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से उनके साहित्य-सम्बन्धी विचार स्पष्ट होते गए, और तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर उनका अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा । इस प्रभाव का कारण उनके विचारों की प्रगतिशीलता है । वे हिन्दी के नवीन साहित्य को देश और समाज की परिस्थितियों से जोड़ना चाहते थे । इसीलिए उन्होंने रीतिकालीन कविता पर प्रहार किया । "नायिका-भेद" शीर्षक निबन्ध इसका प्रमाण है । द्विवेदी जी की सबसे बड़ी देन "व्याकरण की दृष्टि से खड़ी बोली को व्यवस्थित और परिष्कृत करना है । शुक्ल जी ने भी लिखा है ---

"व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदी जी ही थे ।"[1]

"साहित्यालाप" में उनके भाषा संस्कार के लिए किए गए यत्नों का स्पष्ट आभास सहज ही मिल जाता है । हिन्दी खड़ी बोली के प्रगतिशील रूप को पहचान कर द्विवेदी जी ने ऐसा किया था क्योंकि व्यापारिक पूंजीवाद के विकास के साथ हिन्दी खड़ी बोली अपने क्षेत्र विशेष से निकल कर धीरे-धीरे सम्पूर्ण हिन्दी-भाषी जाति के सामान्य व्यवहार की भाषा बन गयी थी ।

द्विवेदी जी ने नायिका भेद और रीति निरूपण की परम्परा को ध्वस्त कर ऐसे विषयों पर कविता लिखने की बात कही जो "मनोरंजक के साथ-साथ" उपदेश-जनक हो । "मनोरंजन" के भीतर वे सम्पूर्ण काव्यानंद को समेटते थे और उपदेश के भीतर नैतिक आदर्शों के साथ-साथ देश की शिक्षा और प्रगति से सम्बन्धित तमाम बातों को/परम्पराबद्ध काव्य विषयों का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा --

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ-426

"अच्छे काव्य लिखने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिए । अलंकार, रस और नायिका-निरूपण बहुत हो चुका ।"[1]

इस प्रकार सुरुचि, नैतिकता और राष्ट्रीयता की जिस भावना को भारतेन्दु युग में प्रश्रय मिला था उसे द्विवेदी जी ने अधिक तीव्र और विकसित किया । इसीलिए --"अपने पूर्ववर्ती युग की तुलना में द्विवेदी युग की राजनीतिक या राष्ट्रीय कविता अतीत से वर्तमान, कल्पना से यथार्थ, उपदेश से कर्म, पर प्रार्थना से स्वावलम्बन... क्रांतिपूर्ण उद्गार की ओर अग्रसर होती गई ।[2]

निष्कर्ष रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - से पूर्व द्विवेदी युग की आलोचना में कृति के गुण-दोष निरूपण, तुलना विवेचना आदि के साथ-साथ जीवन के सन्दर्भ में साहित्य की उपयोगिता की परख की ओर तो ध्यान दिया जाने लगा था किन्तु कवियों की विशेषताएं और उनकी "अन्त: प्रवृत्तियों की छानबीन का" आरम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से होता है । "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में शुक्ल जी ने इसे लक्षित कर लिखा --"इस तृतीय उत्थान (सन् 1918 ई०) में समालोचना का आदर्श भी बदला । गुण-दोष कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और अन्त: प्रवृत्तियों की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया । (हि०सा० का इतिहास पृष्ठ-516)

शुक्ल पूर्व आलोचना में रीति कवियों के बीच श्रेष्ठत्व की उहापोह की धूम-सी मची हुई थी । शुक्ल जी ने परम्परागत आलोचना शैलियों के प्रति सम्मान का भाव रखकर भी अपने युग की आवश्यकताओं को पहचाना और सही अर्थों में आलोचना को प्रगतिशील रूप प्रदान किया ।

---

1. रसज्ञ रंजन - आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ=221.
2. "महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग" - डा० उदयभानु सिंह पृष्ठ-302.

शुक्ल जी ने अपने दृष्टिकोण को विस्तृत बनाने के लिए साहित्य के साथ-साथ राजनीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, अंग्रेजी काव्य तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का समुचित अध्ययन मनन किया । हिन्दी शब्द-सागर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, भ्रमरगीत-सार आदि उनकी उत्कृष्ट रचनाएं हैं । सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से शुक्ल जी ने आधुनिक दृष्टि से रस सिद्धान्त का विवेचन किया । रहस्यवाद का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य प्रवृत्तियों को ध्यान में रखा एवं उसकी ऐतिहासिक परम्परा समझाई ।

साहित्य के प्रगतिशील और विकासवादी तत्वों को ग्रहण करने का शुक्ल जी ने सदैव समर्थन किया । किन्तु पाश्चात्य की एकदम नक्ल के विरोधी थे । आधुनिक साहित्य का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा-- "किसी साहित्य में केवल बाहर की भद्दी नक्ल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सक्ती ।.... जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुंचे ।"[1]

कहने की आवश्यक्ता नहीं कि शुक्ल जी के ये विचार प्रगतिशील एवं विकासवादी हैं । शुक्ल जी ने कविता को क्ला मानने का विरोध किया और भली-बुरी, शुभ-अशुभ, तथा उपयोगी-अनुपयोगी शब्दों को काव्य-क्षेत्र से बाहर के शब्द बतलाए किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे कविता की सामाजिक उपयोगिता के विरोधी थे । छायावाद के "क्ला क्ला के लिए" के सिद्धान्त की कटु आलोचना इसका प्रभाव है ।

शुक्ल जी ने प्राचीन सिद्धान्तों की गूढ़ता एवं गहराई को स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य साहित्य शास्त्र एवं मनोविज्ञान का आश्रय लेकर पूर्णत: भारतीय विचार प्रणाली के अनुरूप अपना मत प्रक्ट किया है । श्री रविन्द्र श्रीवास्तव के अनुसार --"शुक्ल जी की मौलिक्ता इसी बात में है कि उन्होंने सिद्धान्त को भारतीय साहित्य शास्त्र के ग्रहण कर

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ-39।

अपने ढंग से प्रतिपादित किया है ।"[1]

शुक्ल जी का साहित्यिक सिद्धान्त रसवाद है । उनका रसवाद संस्कृत के आचार्यों के रसवाद की पुनरावृत्ति नहीं है । उन्होंने उसे वैज्ञानिक आधार प्रदान कर साहित्य के एक पूर्ण और प्रगतिशील सिद्धान्त के रूप में हमारे समक्ष रखा । आचार्य शुक्ल की आलोचना में भी कुछ असंगतियाँ थी जिनपर विद्वानों ने आक्षेप भी किए । "शुक्ल जी के इतिहास में सामाजिक परिस्थियों तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक दूसरे से अलग है ।"[2] अथवा जैनेन्द्र जी का आक्षेप --"हठधर्मी, एकांगिता और मताभिमान का आक्षेप ।[3] डा० रामविलास शर्मा का मत है कि "शुक्ल जी की छायावाद की आलोचना ने प्रगतिवाद का मार्ग प्रदर्शित किया, प्रगतिवाद उनका गुण माने या न माने ।" वस्तुत: शुक्ल जी शास्त्रीयत की रूढ़ियों में बंधे हुए आलोचक नहीं थे । उनका विवेचन शास्त्रीय है, पर उसके भीतर सहृदयता की स्वच्छंद धारा बहती है । उन्होंने लिखा है --"हम सारा काव्य क्षेत्र देव, मतिराम, और बिहारी आदि के घेरे के भीतर देखने वाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न हैं ।"[4]

शुक्ल जी का विचार था कि समाज की प्रगति के लिए जन-साधारण के जीवन यथार्थ को जानना और उसके अनुसार लोकधर्म की स्थापना कर ऐसा मार्ग बनाना आवश्यक है जिस पर सारा समाज चल सके । यदि ऐसा नहीं किया गया और व्यक्ति को प्रमुखता दी गयी तो

---

1. प्रगतिशील आलोचना - रविन्द्र श्रीवास्तव पृष्ठ-66
2. आलोचना अंक 4 अक्तूबर 1952 - नामवरसिंह
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सं० गुलाब राय विजयेन्द्र स्नातक पृष्ठ-49
4. "चिंतामणि- द्वितीय भाग, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ-171

उससे समाज की प्रगति नहीं हो सकती ।"[1]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने भारतीय चिंतन परम्परा में प्रगतिशील मूल्यों को ही समाहित करने का प्रयास किया है । साहित्य और समाज में घनिष्ट सम्बन्ध-स्थापन का श्रेय शुक्ल जी को ही है । रविन्द्र श्रीवास्तव के शब्दों में कहें तो --

"आधुनिक साहित्य की प्रगतिशील एवं विकासपरक मनोवृत्तियों की तुलना में जो शुक्ल जी को रूढ़िवादी, प्रतिगामी कहते हैं, जिनके अनुसार शुक्ल जी वर्तमान को भविष्य की ओर अग्रसर करने में किंचित मात्र भी सहायक नहीं हुए हैं । उनकी दृष्टि साहित्य के उपरी सतह तक ही बंध कर रह गई है ।"[2] क्योंकि आज भी इतिहास के सुदृढ़ ढांचे और साहित्यकार की ऐसी विशुद्ध आलोचना प्रणाली का विकास कोई सुधी आलोचक नहीं कर पाया जैसा शुक्ल जी ने किया है । आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी आलोचना में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र का प्रमुख योगदान रहा है । किन्तु ये दोनों विद्वान प्रगतिशील धारा के वाहक न होकर "समन्वयवादी" धारा के वाहक हैं । जो हमारा वर्ण्य विषय नहीं । शुक्ल जी के पश्चात आलोचना के क्षेत्र में मुख्य रूप से प्रभाव डालने वाले आलोचक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं । नन्द किशोर नवल जी के मतानुसार ---

"जहां तक आलोचक के रूप में उनकी प्रवृत्ति का प्रश्न है, वे भी समन्वयवादी ही हैं, लेकिन वाजपेयी जी और नगेन्द्र से वे इस दृष्टि से भिन्न हैं कि उनकी मूल दिशा प्रतिक्रियावादी न होकर प्रगतिशील है ।

---

1. हिन्दी आलोचना का विकास - नन्द किशोर नवल पृष्ठ 127 से उद्धृत ।
2. प्रगतिशील आलोचना - रविन्द्र श्रीवास्तव पृष्ठ-7।
3. हिन्दी आलोचना का विकास - नन्द किशोर नवल पृष्ठ-201.

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907-1979) - मूलत: वे साहित्येतिहासकार थे। किन्तु उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना भी लिखी। उनके इतिहास-ग्रंथ "हिन्दी साहित्य" में भी आलोचना के तत्व विद्यमान द्विवेदी जी का चिंतन और लेखन मनुष्य केन्द्रित है। उन्होंने अपने एक निबन्ध में लिखा भी है --"मनुष्य, समस्त इतिहास, पुराणों और व्याकरण ग्रंथों से बड़ा और शक्तिशाली है।"[1]

आचार्य द्विवेदी के साहित्य और समीक्षा में हिन्दी साहित्य का प्रगतिशील स्वर मुखरित हुआ है। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि -- "अगर सच्चे भारतवर्ष को जानना है तो वह उन करोड़ों दलित और मूक जनता की वेदना से अभिन्न है, जिन्हें छूने से भी पाप अनुभव किया जाता है।"[2] काशी में रह कर अध्ययन-अध्यापन करने वाले एक ब्राह्मणवंशीय चिंतक का यह आधुनिक प्रगतिशील मानवीय दृष्टिकोण, उनको विश्व-स्तरीय विचारक की ऊंचाइयों पर ले जाता है। अपनी सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तक "साहित्य सहचर" में वे लिखते हैं --"मानव सहानुभूति से परिपूर्ण हृदय और अनासक्तिजन्य मस्ती साहित्यकार को बड़ी रचना करने की शक्ति देती है।"[3] साहित्य भाषा के सम्बन्ध में उनका मत था कि --

"भाषा सहज होनी चाहिए, साहित्य सहज होना चाहिए, पर सबके मूल में और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा और साहित्य के साधक को सहज होना चाहिए।"[4]

---

1. विचार और वितर्क - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-70.
2. अशोक के फूल - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-20.
3. साहित्य सहचर - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-19.
4. विचार और वितर्क - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-183

द्विवेदी कृत्रिमता के विरोधी थे । वे अपनी आलोचनाओं में सारे तकनीकी प्रतिबंधों को तोड़कर चितगत उन्मुक्तता के हिमायती रहे हैं । किन्तु साथ ही वे अपनी प्राचीन परम्पराओं से मुंह नहीं मोड़ते, इन परम्पराओं का प्रदेय आधुनिक जीवन में सहज स्वीकार करते हैं । नाथ-सिद्ध योगियों का कबीर आदि संत कवियों पर प्रभाव का निरूपण इसका प्रमाण है । आचार्य द्विवेदी संकीर्णता को साहित्य और समीक्षा का विरोधी मानते थे । किसी साहित्यकार को उसकी संपूर्ण ऐतिहासिक-सामाजिक सांस्कृतिक श्रेणियों में रखकर उसका मूल्यांकन करना उनकी प्रगतिशील आलोचना दृष्टि की प्रमुख विशेषता है । उनकी राय में -- "जो साहित्य हमें हमारी पशु-सामान्य मनोवृत्तियों से उपर उठाए, वही वास्तविक साहित्य है, और जो इस शर्त को पूरा नहीं करता, वह साहित्य कहलाने लायक नहीं है ।"

इतिहास बोध को वे मनुष्य को "तीसरी-आंख" मानते हैं । "इतिहास बोध को पलायन समझना आधुनिकता नहीं, आधुनिकता-विरोध है ।"[1] ऐतिहासिक परम्पराओं पर नज़र रखकर ही द्विवेदी जी हिन्दी आलोचना को प्रगतिशील दृष्टि दे सके यह कहना कदाचित अनुचित न होगा । द्विवेदी जी के पश्चात प्रगतिशील आलोचना का नया दौर आरम्भ होता है । चौथे दशक के मध्य में प्रेमचन्द ने 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ" के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष पद से साहित्य के युगोचित नये उद्देश्य स्पष्ट किए । इस प्रकार हिन्दी में संगठित रूप से प्रगतिशीलता का आरम्भ हुआ । परिणामत: आलोचना में भी नई मान्यताएं प्रकट होने लगी । इस दौर के प्रमुख आलोचक शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा और इन्हीं के समकालीन प्रगतिशील आलोचक हैं श्री रांगेय राघव ।

---

1. आलोचना (जुलाई-सितम्बर 1967 में मनोहर श्याम जोशी द्वारा लिया गया साक्षात्कार, पृष्ठ-422.

शिवदान सिंह चौहान ने मार्च 1936 के "विशाल भारत" में "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता" शीर्षक एक लेख लिखा । जिसमें प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्तों को सूत्र-बद्ध करने का प्रयास है । इसी लेख में वे लिखते हैं --"भक्तिकाल में भी केवल आत्म-समर्पण, भक्ति में तल्लीनता आदि भाव ही हमारे तुलसी-सूर आदि साहित्य में भर पाए थे ।... वर्तमान काल में भी किसी स्वस्थ विचार धारा का नाम नहीं । डा० निर्मला जैन का मत है कि "इस लेख में श्री चौहान ने जिस तरह सरकारी तौर से हजार वर्ष के हिन्दी साहित्य को प्रतिक्रियावादी कह कर खारिज कर दिया, उससे उस युग की आरम्भिक प्रगतिशील आलोचना-दृष्टि का आभास मिलता है ।"[1]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह प्रगतिशील आलोचना का दृष्टिकोण नहीं अपितु मार्क्सवाद को आधार बना कर की जाने वाली आलोचना की दृष्टि है ।जब चौहान जी के विचारों में परिवर्तन आया और "हंस" का संपादन उन्होंने किया तब उनका दृष्टिकोण उदार हो चुका था । चौहान जी ने "साहित्य की परख" "साहित्यानुशीलन" तथा "आलोचना के मान" में अपने आलोचना सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं । चौहान जी साहित्य में "पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा" को काम्य मानते हैं । मार्क्सवाद की कट्टरता के विरोधी और उदारता के समर्थक हैं । मार्क्सवाद को आधार मानकर एवं आचार्य शुक्ल की असंगतियों का निराकरण कर हिन्दी आलोचना की प्रगतिशील धारा को वैज्ञानिक ढंग से विकसित करने वाले वे प्रमुख आलोचक हैं ।

डा० रामविलास शर्मा (1912) - शर्मा जी ने अपने सहकर्मी कुछ अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की तरह कोरे मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया । अपितु मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिन्दी साहित्य

---

1. हिन्दी आलोचना : बीसवीं शताब्दी - डा० निर्मला जैन पृष्ठ-64

की परम्परा की नई व्याख्या प्रस्तुत की । वे जड़ मार्क्सवादी आलोचक नहीं हैं । उनकी "आस्था और सौन्दर्य" कृति इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । शर्मा जी ने शुक्ल जी का खण्डन करने वाले आलोचकों को आगे बढ़ कर कहा कि --"हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का ।..... उन्होंने बाह्य-जगत और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य सिद्धान्तों की स्थापना की और उनके आधार पर सामन्ती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया । उनका यह कार्य हर देशप्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिए दिलचस्प होना चाहिए ।"[1]

साहित्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि --

"जो साहित्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न को छिपाता है, ...वह प्रचारक न दीखते हुए भी वास्तव में प्रतिक्रियावाद का प्रचारक होता है । जो साहित्य यथार्थ जीवन के इस सत्य को प्रकट करता है, वह वास्तव में गम्भीर साहित्य होता है और मनुष्य के हृदय में रस सृष्टि करने के साथ-साथ उसे विकास की प्रेरणा भी देता है ।"[2]

डा० शर्मा का मत है कि --"कवि क्या लिखे क्या न लिखे, यह उसकी इच्छा के साथ-साथ परिस्थितियों पर भी निर्भर है । हर युग में, हर देश में, उसको इच्छानुसार लिखने की स्वतंत्रता नहीं रही ।"[3]

कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार क्या लिखता है यह उसकी समकालीन विचारधाराओं, परिस्थितियों और स्वयं लेखक के वर्गीय आधार पर निर्भर करता है । क्योंकि रचनाकार संसार और समाज के प्रति कोई न कोई दृष्टिकोण तो अपनाता ही है ।

TH-2960

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY

DISS 0,152,3,N23:9 152N1

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना - रामविलास शर्मा पृ.7
2. प्रगति और परम्परा - रामविलास शर्मा पृष्ठ-55
3. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-45

डा० शर्मा ने जिस प्रकार साहित्य को परिभाषित किया उसी प्रकार साहित्य के मूल्यांकन की समस्या का समाधान भी प्रस्तुत किया । उन्होंने कहा --"मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज हित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं ।"[1] उनका स्पष्ट मानना है कि साहित्य में रूप "वस्तु" का सहचर हो न कि मात्र रूप की ही प्रधानता हो । साहित्य समाज के हित में होना चाहिए । उनका कहना है कि साहित्य एक सामाजिक क्रिया है । उसका निर्माण समाज के योग से होता है और उसका प्रभाव भी समाज पर पड़ना चाहिए । आलोचक के लिए वे कहते हैं कि --"उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह साहित्य-रचना के लिए पथ-निर्देश करे ।"[2]

डा० रामविलास शर्मा ने इस प्रकार प्रगतिशील विचारों के प्रकाश में अपनी आलोचना दृष्टि का निर्माण किया । नवल जी के अनुसार -- "वे हिन्दी के पहले आलोचक हैं जिसने मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र को ठीक से समझ कर उसे साहित्य के क्षेत्र में लागू किया है और उसके आधार पर आलोचना लिखी है ।"[3] हिंदी आलोचना का विकास पृष्ठ 276 ।

---

1. संस्कृति और साहित्य - रामविलास शर्मा पृष्ठ : 6-7
2. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य - डा० रामविलास शर्मा पृष्ठ-87.
3. हिन्दी आलोचना का विकास - नवल पृष्ठ-276.

द्वितीय अध्याय

प्रगतिशील आलोचना के मुख्य-तत्व

§1.§ साहित्य और समाज का सम्बन्ध

प्रगतिशील आलोचना में साहित्य और समाज का सम्बन्ध कैसा हो इस पर विचार किया जाता है । साहित्य और समाज के आपसी सम्बन्ध के प्रति प्रगतिशील दृष्टि कोई जड़ रूढ़ि नहीं, बल्कि एक जीवन्त दृष्टि है । साहित्य स्वयं अपने में साध्य नहीं होता, उसे समाज सापेक्ष होना ही चाहिए । समाज निरपेक्ष साहित्य का क्या प्रयोजन ?

प्रगतिशील दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं होता, कुछ लोगों की मात्र रसनिष्पति नहीं, नैतिक उपदेश अथवा राजनीतिक सन्देश देना मात्र नहीं बल्कि उसका उद्देश्य कुछ अधिक विस्तृत है । उसका उद्देश्य है मनुष्य का उसके परिवेश के साथ पूर्ण समायोजन, उसकी मूल वृत्तियों का परिष्कार, मानव को अधिक सामाजिक और मानवीय बनाकर उसका पूर्ण विकास करने में मदद करने के साथ-साथ मानव को अपने आसपास की वास्तविकता को परिवर्तित करके एक अधिक अच्छा संसार निर्माण करने की प्रेरणा देना ।

साहित्य वस्तुत: जीवन और जगत् की वास्तविकता का एक विशिष्ट प्रतिफलन है । वह यथार्थ जीवन का प्रतिबिम्ब और समाज की आलोचना है, समाज का दर्पण या उसके आगे चलने वाली मशाल होता है, जिसके आलोक में समाज अपना पथ प्रदर्शित करता हुआ आगे बढ़ता है । समाज की व्याख्या करने वाली और उसमें उचित परिवर्तन लाने में सक्षम एक ऐसी शक्ति है, जो उसे बदलने में समर्थ होती है, सामाजिक प्रभाव और परिवर्तन का एक हथियार है श्री रामचन्द्र बोड़ा के शब्दों

में --"साहित्य को एक निश्चित प्रगतिशील विचारधारा का अनुयायी होना चाहिए । उसे मानवीय मूल्यों को आगे बढ़ाने में योग देना चाहिए।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है कि --

"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहीं की जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है ।"[2]

शुक्ल जी का मानना है कि जैसी समाज की रुचि और परिस्थितियां होती है साहित्य पर समाज का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु साहित्य में सामाजिक परिस्थितियों का हू-ब-हू प्रतिबिम्ब नहीं होता बल्कि वह उनसे प्रभाव ग्रहण कर सूक्ष्म और संश्लिष्ठ रूप में ही साहित्य में रूपायित होता है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य का प्रयोजन बड़ी उदार दृष्टि से घोषित करते हुए लिखते हैं --"साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है जिस पुस्तक से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नहीं होता,... स्वार्थपरता और हिंसा के दल से उभर नहीं पाता वह पुस्तक किसी काम की नहीं है ।"[3]

यह सही है कि साहित्य मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों के परिष्कार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है किन्तु मनुष्य समाज का प्रारूप है । वह सामाजिक सम्बन्धों में ही योग्यता का विकास कर सकता है । समाज की दीवार अपने में जितनी विस्तृत होगी साहित्यकार उतना ही स्वच्छंद होकर निष्ठावान साहित्य सृजित कर सकेगा । यदि सामाजिक व्यवस्थाएं उसे इतनी स्वतंत्रता ही न देगी तब तो पार्टी के नारों का ही

---

1. श्री रामचन्द्र बोडा - साहित्य की परिधि पृष्ठ-103
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिंदी साहित्य का इतिहास पृष्ठ-।
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - विचार और वितर्क पृष्ठ-7।

प्रतिफलन साहित्य में होगा और ऐसा साहित्य समाज या व्यक्ति का कैसा हित करेगा, इसे कहने की भी आवश्यकता नहीं । ऐसा साहित्य प्रगतिशील आलोचना के अनुसार किसी भी अर्थ में साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं होगा । साहित्य का अस्तित्व समाज से अलग नहीं होता । साहित्य कर्म की पूरी प्रक्रिया सामाजिक व्यवहार का ही एक रूप है । साहित्यकार की रचनाशील चेतना सामाजिक परिस्थितियों से ही निर्मित होती है । हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में सामंतवाद विरोधी तथा साम्राज्यवाद विरोधी जनभावना की अभिव्यक्ति की आकांक्षा से ही भारतेन्दु युगीन रचनाकारों ने जहाँ रीतिवादी रूढ़िबद्ध प्रणालो का त्याग किया, वहीं साहित्य की नवीन प्रगतिशील धारा का विकास किया । बालकृष्ण भट्ट ने लिखा --"साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है ।"

प्रगतिशील आलोचना का प्रमुख कर्त्तव्य है साहित्य में सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियों का उद्‌घाटन करना जो साहित्य जनजीवन की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ है, जिसमें सामाजिक विकास की प्रेरणा नहीं है ऐसा साहित्य किसी काम का नहीं ।

युग बदलता है और उसके साथ बदलती हैं मान्यताएं भी । प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन में सभापति पद से बोलते हुए प्रेमचन्द जी ने नए मानदण्डों की ओर संकेत करते हुए कहा था --

"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी । अभी तक यह कसौटी अमीरों और विलासिता के ढंग की है ।"

प्रगतिशील आलोचना में सामाजिक विषमता से पलायन की प्रवृत्ति नहीं होती बल्कि मूल्यांकन का आधार समाज पर पड़ने वाले प्रभाव होते हैं, वे सक्रिय व्यापार होते हैं जो सदैव समाज को विकासोन्मुखी बनाते हैं ।

साहित्य कभी भी समसामयिक परिस्थितियों से कटा हुआ और सामाजिक यथार्थ से अछूता नहीं हो सकता । डा० रांगेय राघव के अनुसार ---

"साहित्य व्यक्ति वैचित्र्य का अखाड़ा नहीं है, वह तो व्यक्ति के उदात्तीकरण की साधना है । यह साधना व्यक्ति को खण्ड रूप से नहीं देखती, उसे समाज के समस्त तारतम्यों पर रखकर देखती है ।"[1]

अतएव साहित्य को न तो व्यक्ति के वाग्विलास का प्रभाव कहा जा सकता है और न कल्पना का बायवी जाल । रविन्द्र श्रीवास्तव ने लिखा है ----

"साहित्य का साध्य स्वयं साहित्य नहीं, अपितु मनुष्य और उसकी मनुष्यता है । मानव अपने व्यक्ति की सीमा में संकुचि रहकर अपना जीवन यापन नहीं करता । वह सामाजिक प्राणी है । अत: उसका सम्बन्ध समुदाय के अन्य प्राणियों एवं उसके कार्य-व्यापारों से भी जुड़ा होता है ।"[2]

प्रगतिशील आलोचना इसीलिये साहित्य और समाज को अन्यो-न्याश्रित मानकर चलती है । वह समाज की प्रगतिशील वृतियों को पहचान कर उसके अनुरूप साहित्य की रचना करने की ओर ध्यान आकर्षित करती है । युगीन चेतना और उसकी चेष्टाओं से ही साहित्यकार प्रेरणा प्राप्त करता है । प्रगतिशील मनोभावों के रूपांकन से ही साहित्य के स्थायी उत्पादनों का निर्माण होता है । इसीलिए प्रगतिशील आलोचना का एक प्रमुख तत्व है साहित्य और समाज का सम्बन्ध ।

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-107.
2. रवीन्द्र श्रीवास्तव - प्रगतिशील आलोचना - पृष्ठ-240

2. इतिहास दृष्टि

प्रगतिशील आलोचना का दूसरा मुख्य तत्व है उसमें समन्वित इतिहास-दृष्टि । साहित्य का मूल्यांकन और विश्लेषण करते समय आलोचक रचना को उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर देखता है । रचनाकार की चेतना अपने सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भ से अवश्य प्रभावित होती है । साहित्यकार अपने सामाजिक परिवेश से कटा हुआ नहीं होता । अतएव सामाजिक घात-प्रतिघातों का उस पर भी उतना ही असर पड़ता है जितना किसी अन्य पर ।

डा० मैनेजर पाण्डेय के अनुसार --

"साहित्य कर्म की पूरी प्रक्रिया सामाजिक व्यवहार का ही एक विशिष्ट रूप है इसलिए वह समाज के इतिहास से अनेक रूपों में जुड़ी होती है । और व्यापक सामाजिक इतिहास का अंग भी होती है ।"[1]

साहित्यिक रचनाएँ इतिहास से आधारभूत प्रेरणा ग्रहण करती हैं । ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि आलोचक सामाजिक इतिहास के साथ रख कर साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन प्रस्तुत करे । तभी उस आलोचना में वैज्ञानिकता का समावेश हो सकेगा और रचना का उचित मूल्यांकन प्रस्तुत करने में सफल हो सकेगा ।

"मानक हिन्दी कोश" में इतिहास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है --

"इतिहास में किसी व्यक्ति समाज या देश की महत्वपूर्ण विशिष्ट या सार्वजनिक क्षेत्र की घटनाओं, तथ्यों आदि का काल क्रम से लिखा विवरण मिलता है । या किसी वस्तु या विषय की उत्पत्ति, विकास आदि का कालक्रम से होने वाला विवेचन मिलता है ।"[2]

---

1. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य और इतिहास दृष्टि पृष्ठ-11।
2. मानक हिन्दी कोश - प्रथम खण्ड पृष्ठ-307

अत: इतिहास चाहे समाज का हो या साहित्य का उसमें विकास की प्रकिया, अवस्था और दिशा की पहचान अवश्य होगी । और आलोचक के लिए विकास की प्रक्रिया अवस्था और भावी दिशा का ज्ञान होना अनिवार्य है । तभी वह वैज्ञानिक ढंग से साहित्य का विकास, परिवर्तन के कारणों को जानकर, उनकी उचित व्याख्या कर, संगति असंगति पर विचार कर कृति एवं कृतिकार की रचना दृष्टि का मूल्यांकन कर सकेगा । इन परिस्थितियों का साहित्यकार पर क्या प्रभाव पड़ा, साहित्य रूपों में इससे क्या परिवर्तन आया इस बात का निर्देशन भी वह वैज्ञानिक ढंग से करने में सफल हो सकेगा ।

अपने इतिहास-बोध के कारण ही प्रगतिशील आलोचक हिंदी साहित्य के इतिहास का उचित नामकरण एवं वैज्ञानिक ढंग से काल-विभाजन करने में सफल हो सके हैं । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इतिहास-बोध के कारण ही रीतिकालीन दरबारी कवियों और काव्य से नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य को श्रेष्ठ बताया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी इतिहास दृष्टि की सहायता से भक्ति काल के लोकोन्मुख काव्य को रीतिकाल के दरबारी काव्य से श्रेष्ठ सिद्ध किया ।

जिस प्रकार इतिहास बोध आलोचक के लिए आवश्यक है उसी प्रकार रचनाकार के लिए भी इतिहास बोध आवश्यक है, डा० मैनेजर पाण्डेय के अनुसार ---

"साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में इतिहास बनाने वाले रचनाकार होते हैं, इतिहास बोध उनके लिए भी आवश्यक है ।"[1]

रचनाकार के लिए इतिहास बोध इसलिए भी आवश्यक है जैसाकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है ----

---

1. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य और इतिहास दृष्टि पृष्ठ-207

"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता चितवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है और जनता की चितवृत्ति के परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है ।"[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि जन-साधारण की रुचियों में परिवर्तन होने से रचनाकार की रचनादृष्टि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है । रुचि परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से होता है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी साहित्य में विकास और परिवर्तन को कुछ थोड़ा-सा भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं । उनका अधिक बल परम्परा के विकास पर है, परिस्थितियों पर वे उतना अधिक बल नहीं देते । इसका प्रमाण है उनकी हिन्दी साहित्य के इतिहास सम्बन्धी रचनाएं । हिंदी साहित्य का आदिकाल" हिन्दी साहित्य की भूमिका आदि । उन्होंने परम्परा का विकास ही हिन्दी साहित्य के विकास में देखा है । डा० नामवर सिंह का कथन है --"अपनी इस सन्तुलित दृष्टि के द्वारा ही उन्होंने हिन्दी साहित्य की लोकोन्मुख प्रगतिशील परम्परा का विकास किया है ।"[2]

इतिहास दृष्टि का होना आलोचक के लिए भी आवश्यक तो है किन्तु सभी का इतिहास-बोध एक समान नहीं होता । जैसा कि हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले दो प्रमुख इतिहासकारों -- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि के अन्तर में देखने को मिलता है । नलिन विलोचन शर्मा ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है --"यह ठीक है कि आचार्य शुक्ल की तरह द्विवेदी जी ने साहित्य को अपने द्वारा बनाए गए सांचे में जकड़ बन्ध करने की चेष्ठा नहीं की है, न उसे किसी अतिसरलीकृत परिपारिवर्क योजना में बिठाने

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ-।
2. नामवर सिंह - दूसरी परम्परा की खोज पृष्ठ-।9

की आवश्यक्ता समझी है । तत्वत: शक्तेतर पद्धति अपनाए हुए भी बहुधा बनी बनाई गहरी लीक पर चल पड़े है ।"[1]

वैचारिक भिन्नता होने का अर्थ यह नहीं कि "इतिहास-दृष्टि ही न हो । प्रगतिशील आलोचक होने के नाते आलोचक इतिहास ज्ञान से रिक्त नहीं हो सक्ता । यदि इतिहास से अलग कर साहित्यिक कृतियों की समीक्षा की जाएगी तो "रचना" की मूल प्रेरक शक्तियों के ज्ञान से आलोचक अनभिज्ञ रहेगा । ऐसी अवस्था में आलोच्य कृति और कृतिकार का उचित मूल्यांकन सम्भव ही नहीं है । अन्तत: प्रगतिशील आलोचना के लिए "इतिहास-दृष्टि" प्रमुख तत्व के रूप में स्वीकृत करना उचित ही है । इसमें कोई दो राय नहीं हो सक्ती ।

3. यथार्थ बोध

यथार्थ-बोध प्रगतिशील साहित्य-चिन्तन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है । यथार्थ बोध कुछ हद तक "कबीर, तुलसी के साहित्य में भी मिलता है किन्तु आधुनिक-अर्थ में हिन्दी में यथार्थ-बोध आधुनिक काल में अधिक स्पष्ट रूप से मिलता है ।

"हिन्दी साहित्य कोश" के अनुसार ----

"आधुनिक अर्थ में यथार्थवाद का हिन्दी-साहित्य में प्रथम विकास प्रगतिवाद के माध्यम से हुआ ।"[2]

यह सही है कि सन् 1936 के आसपास साहित्य में यथार्थ वर्णन अत्यधिक मिलता है जिस पर आक्षेप लगाते हुए आलोचकों ने अतिशय "शृंगारिकता" "कुस्तिक यथार्थवाद से भी निकृष्ट" जैसे आरोप लगाए ।

---

1. नलिन विलोचना शर्मा - साहित्य का इतिहास दर्शन पृष्ठ-95

2. सं0 धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य कोश पृष्ठ-606

यथार्थ दृष्टि के लिए सन् 36 के आसपास उचित वातावरण था - दो विश्वयुद्धों की भयंकरता उनसे उत्पन्न सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियां महंगाई के कारण लोगों की दयनीय अवस्था ने साहित्यकारों को कल्पना लोक छोड़ यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित अवश्य किया था किन्तु यथार्थ का वर्णन भारतेन्दु काल के साहित्य में पूर्व भक्तिकालीन संत कवियों की रचनाओं में भी विपुल मात्रा में मिलता है । प्रगतिवाद में तो यथा तथ्य वर्णन का बोलबाला हो चला था ।

यथार्थ-बोध की व्यापक दृष्टि के लिए अपने देश की सांस्कृतिक परम्परा एवं सामयिक स्थिति के अनुकूल साहित्य में कुछ और संश्लिष्ट रूप से जोड़ने की आवश्यकता होती है न कि राग तत्व का अभाव और मात्र घृणा-द्वेष का प्रचार ही ध्येय होता है ।

प्रगतिशील आलोचक के लिए यथार्थ का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि यथार्थ-बोध के बिना समाज के बाहर-भीतर फैली हुई कुव्यवस्थाओं एवं दुर्बलताओं का ज्ञान नहीं हो सकता । इस ज्ञान के अभाव में रचनाकार की रचना का उचित मूल्यांकन एवं विश्लेषण कर पाना कठिन होगा । साहित्य हू-ब-हू यथार्थ चित्रण का नाम नहीं है । उसमें तो रचनाकार की कल्पना-शक्ति रंग भरकर इस प्रकार रूपायित होती है कि पाठक पर व्यापक प्रभाव छोड़ती है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है ---

"मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दुनिया के दु:ख और अवसाद से आंख मूंद ली जाए । आंख मूंदने वाला बड़ा लेखक नहीं हो सकता ।.... इन्हीं बातों से उपन्यास बड़ा होता है, काव्य महान होता है, कहानी सफल कही जाती है ।"[1]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी - साहित्य सहचर पृष्ठ 92-93

वस्तुत: यथार्थ-बोध जहाँ वर्तमान की समस्याओं से अवगत कराता है वहीं भूतकाल के अवलोकन से भविष्य के लिए मार्ग दर्शन भी कराता है । डा० रणजीत के शब्दों में ---

"यथार्थ को एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखता है, जिसका एक किनारा भूतकाल तक पहुंचा हुआ होता है और दूसरा भविष्य तक ।.... वह वर्तमान यथार्थ के चित्रण के साथ भविष्य के उस स्वप्न की ओर भी संकेत करता है, जो वर्तमान को बदलने की एक बहुत बड़ी प्रेरणा है ।"[1]

यथार्थ-बोध की उपयोगिता का अभिप्राय यह नहीं कि कला का अभाव हो बल्कि साहित्य की उद्देश्य परकता का उदय बिना उस पर जोर दिए, परिस्थिति तथा पात्रों के क्रिया कलाप में से अपने आप होना चाहिए । इस प्रकार का कौशल रचनाकार में मात्र यथार्थ-बोध से सम्भव नहीं, इसके लिए उसमें साहित्य-सृजन की प्रतिभा कल्पना की समाहर शक्ति का होना भी जरूरी है ।

रवीन्द्र श्रीवास्तव ने ठीक ही लिखा है ----

"नील कुंज की छाया में बैठकर स्वप्न बुनने एवं शशि की शीतल किरणों के माध्यम द्वारा कल्पित चित्र बनाने से समस्याओं का समाधान नहीं मिल सकता ।"[2]

हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कल्पना और विचारों का भी कोई ठोस सामाजिक आधार होता है । जो रचनाकार अपनी सामयिक परिस्थितियों से अवगत होते हैं वही सामयिक समस्याओं के समाधान का बौद्धिक हल भी दे सकते है । इसीलिए प्रगतिशील आलोचना

---

1. रणजीत - हिन्दी की प्रगतिशील कविता पृष्ठ-99
2. प्रगतिशील आलोचना - रवीन्द्र श्रीवास्तव पृष्ठ 126

में यथार्थ-बोध पर विशेष बल दिया जाता है । डा० लक्ष्मण दत्त गौतम ने प्रगतिशील चिन्तन के मानदण्ड बताते हुए लिखा है कि ---

"प्रगतिशील चिन्तन का तीसरा प्रतिमान है, प्रगतिशील कलाकार कला के माध्यम से शोषण का विरोध करने को प्रतिबद्ध है ।"[1] वे आगे लिखते हैं --"प्रगतिशील कलाकार समाज के अभावों, कुव्यवस्थाओं और दुर्बलताओं को पाठक की आंखों के सामने लाने के लिए यथार्थ-बोध का सहारा लेता है ।"

---

1. आधुनिक हिंदी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना - डा० लक्ष्मण दत्त गौतम पृष्ठ-67

तृतीय अध्याय

रांगेय राघव की आलोचना में साहित्य और समाज का सम्बन्ध

1. साहित्य की अवधारणा :

डा0 रांगेय राघव के विचार में साहित्य भावों के माध्यम से सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्बन करता है । साहित्य राजनीति के वस्तु-सत्य को मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यक्ति और व्यक्तियों के सुख-दु:ख, उनके जीवन के ताने-बाने में फिरोकर प्रस्तुत करता है । वह जीवन के यथार्थ को लेकर काव्य को भावों के माध्यम से शक्ति देता है और जन कल्याण की ओर प्रेरित करके व्यक्ति के उत्तरदायित्व बढ़ाते हुए उसे उदात्त बनाकर व्यापकतम बनाता है ।"[1]

साहित्य मानव की सद्वृत्तियों को प्रेरित करता है । असद्-वृत्तियों के शमन की प्रेरणा देकर वह मानव की सात्विक वृत्तियों को बढ़ाता है । डा0 राघव के शब्दों में --

"साहित्य व्यक्ति वैचित्र्य का अखाड़ा नहीं है, वह तो व्यक्ति के उदात्तीकरण का साधन है । यह साधना व्यक्ति को खण्ड रूप से नहीं देखती, उसे आज के समस्त तारतम्य में रखकर देखती है ।"[2]

इसीलिए "साहित्य संदेश" आधुनिक "उपन्यास अंक" में भी उन्होंने व्यक्तिवाद का विरोध करते हुए लिखा था--

".... न मैं यौनवादी तृष्णा में व्यक्तिवाद और प्रयोगवाद का आश्रय लेना चाहता हूँ न प्रगतिवाद के चोले में अपने को यान्त्रिक बना सकता हूँ ।..... व्यर्थ की समस्याएं मुझे नहीं आती और वह

---

1. काव्य यथार्थ और प्रगति - डा0 रांगेय राघव पृष्ठ 107
2. काव्य यथार्थ और प्रगति - डा0 रांगेय राघव पृष्ठ 107

भी व्यक्तिवादी टटपुँजियेपन की ।"[1]

अभिप्राय यह है कि साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब मान कर भी वे समाज के लिए अनुपयोगी वैयक्तिक अनुभूतियों के चित्रण के पक्षपाती नहीं थे । उनके विचार में कला ---

"कला उस अभिव्यक्ति का पर्याय है, जो कलाकार अपने व्यक्तित्व से वस्तु का तादात्म्य करके सृजन करता है ।"[2] तथा "कला मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं की वह अनुभूति है जो अपने सुख-दु:ख तथा गम को हल्का करने के लिए बनाई गई थी । प्रत्येक युग में उसकी अनुभूति का स्वरूप बदलता है और कला बदलती रहती है ।"[3]

कविता के बदलते हुए रूप के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि --"प्रारम्भ से लेकर अब तक प्रत्येक युग में कविता का रूप बदलता रहा है ।"[4] काव्य वे उसे ही मानते हैं --"जिसका मनुष्य के भाव जगत से सम्बन्ध है ।"[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० रांगेय राघव के "साहित्य की अवधारणा सम्बन्धी विचार" जहाँ अपनी मौलिकता में नवीन है वहीं वे रूढिगत अवधारणाओं से हट कर पर्याप्त प्रगतिशील हैं । साहित्य को न वे वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब स्वीकार करते है और न व्यक्ति वैचित्र्य का अखाड़ा । जहाँ वे साहित्य के लिए समाज का प्रदेय स्वीकार

---

1. साहित्य संदेश "आधुनिक उपन्यास अंक, जुलाई-अगस्त, 1956 पृष्ठ-87
2. समीक्षा और आदर्श - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-8
3. "आलोचना" अप्रैल 1952 - डा० रांगेय राघव
4. महाकाव्य विवेचन - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-42
5. महाकाव्य विवेचन - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-126

करते हैं वहीं भावों को भी महत्व देते हैं । न वे यान्त्रिकता के हामी हैं और न प्रयोगवादियों की तरह निरी वैयक्तिक अनुभूतियों के ।

साहित्य का प्रयोजन : आदि आचार्यों ने साहित्य के प्रयोजन धर्म, अर्थ काम, मोक्ष बताए । किन्तु आधुनिक युग में बदलती हुई साहित्यिक अभि-रुचियों, बदलती हुई परिस्थितियों एवं व्यक्ति के आचरणों से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की अवधारणा छोटी पड़ती जा रही है । वैज्ञानिक उन्नति ने धर्म के प्रति लोगों में अरुचि उत्पन्न कर दी है । अर्थार्जन के अन्य इतने साधन आरामदायक और लाभकारी हैं कि उसके लिए साहित्य सृजन की अवधारणा अनुपयुक्त जान पड़ती है । इसी तरह काम और मोक्ष के सम्बन्ध में भी मतभेद हो सकता है । डा० रांगेय राघव ने इसीलिए इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है कि ---

"इस मनुष्य के संसार में अनेक व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने साहित्य के लिए सबकुछ न्यौछावर कर दिया है और अपने को भी मिटा कर वे वे चले गए हैं । काव्य के आचार्यों ने इसे यश और कीर्ति की लिप्सा कहा है । मैं समझता हूँ यश और कीर्ति की नीयत धन कमाने की नीयत की ही भाँति साहित्यकार की आत्मा को पूर्णरूपेण संतुष्ट नहीं करती । सामाजिक सम्बन्धों में जो हृदय पर घात-प्रतिघातों की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, वही संवेदनशील हृदय को आगे बढ़ाती है । कवि यह जानते हुए भी कि अमुक कार्य में यश मिलेगा तब तक उसे नहीं करते जब तक उनकी इच्छा स्वयं उस ओर जागृत न हो जाये ।"[1]

"कला कला के लिए" के हिमायती इसे स्वेच्छा का नाम देते हैं । किन्तु डा० राघव का विचार है कि यह मात्र कलाकार की स्वच्छा नहीं बल्कि वे इसे कलाकार की "सदिच्छा" का नाम देते हैं । क्योंकि जब हम

---

1. समीक्षा और आदर्श - रांगेय राघव पृष्ठ-7

किसी ऐसे क्लाकार देखते है जो अपने ही वर्ग की बुराइयों, उसकी शोषण नीतियों के विरुद्ध रचना करता है, जब वह अपने ही वर्ग का बिरोधी बन कर खड़ा हो जाता है, वस्तुत: वह युग प्रभावित अभिव्यक्ति उसकी स्वच्छा नहीं अपितु उसकी सदिच्छा अर्थात व्यापक मानवीय संवेदना होती है ।" डा० राघव के शब्दानुसार --

"इस व्यक्ति की "सदिच्छा" को हम "स्वेच्छा" नहीं समझते, जब हम कहते है कि क्लाकार चाहे किसी भी वर्ग का हो जब वह क्ला के सत्य का वर्णन करता है तब वह अपनी सीमाओं से बाहर आ जाता है और व्यापक मानवीय कल्याण-भूमि क्लाकार को जाने अनजाने में ही अनायास उसे अपने क्षेत्र का प्राणी बना लेती है । तब हम वास्तव में व्यक्ति की उसी "सदिच्छा" की ओर इंगित करते हैं । यह "सदिच्छा" संवेदनशीलता पर आधारित होती है और क्लाकार सबसे अधिक मानवीय गुण संवेदनशीलता को अपने भीतर रखता है । यह वैज्ञानिक में नहीं होती ।"[1]

डा० राघव के अनुसार रचनाकार अपनी "सदिच्छा" के प्रभाव में आकर ही साहित्य-रचना करता है । जैसा कि उन्होंने कहा है कि "मानवीय-कल्याण" की भावना जिसमें होगी वह स्वत: ही संवेदनशील व्यक्ति होगा । मुक्तिबोध ने भी कविता को परिभाषित करते हुए कहा था----

"वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्म-चेतस व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया ही कविता है ।"[2]

---

1. समीक्षा और आदर्श - डा० रांगेय राघव पृष्ठ512
2. नई कविता का आत्य संघर्ष और अन्य निबन्ध - मुक्तिबोध पृष्ठ-17

प्रगतिशील आलोचक साहित्यकार में मानवीय संवेदना, महान अनुभूति की क्षमता पर विशेष बल देते हैं । यह प्रगतिशील आलोचना का प्रमुख ध्येय भी है । डा० राघव ने तथाकथित धर्म-अर्थ काम मोक्ष की रूढ़िगत अवधारणा के बदले काव्य-प्रयोजन की अधिक तर्कसंगत और नूतन अवधारणा प्रस्तुत कर प्रगतिशील आलोचना को अपने ध्येय की प्राप्ति कर लेने में योग दिया है ।

काव्य हेतु

आदि आचार्य काव्य-हेतु अथवा साहित्य निर्माण के उत्तरदायी कारकों में व्युत्पत्ति, प्रतिभा और अभ्यास आदि का उल्लेख करते रहे हैं । यही नहीं इनके सूक्ष्म भेद-उपभेद वर्णन पर पृष्ठ रंग डाले गए हैं । किन्तु डा० रांगेय राघव ने इस विषय पर भी मौलिक रूप से विचार करते हुए लिखा है कि ---

"कवि का हृदय जब वस्तु को ग्रहण करके फिर अभिव्यक्त करता है तब वस्तु केवल वही नहीं रहती जो पहले थी । उस वस्तु में उसका व्यक्तित्व मिल कर फिर बाहर उलता है । इसे "कला कला के लिए" वाले स्वेच्छा कहते हैं । रूढ़िवादी इसे परमात्मा की देन कहा करते हैं । समाज-शास्त्र के आलोचक कवि मानस की इस स्वतंत्रता को उसकी अपने आदर्श के प्रति होने वाली "श्रद्धा" कहा करते हैं । आदर्श तो विकास है, विकास एक संघर्ष है ।"[1]

"समाज के विकास" को वे संघर्ष का परिणाम मानते हैं । उसी प्रकार समाज में विपरीत शक्तियों के आपसी संघर्ष से प्राप्त ज्ञान के कारण साहित्य का सृजन सम्भव होता है उनकी यही धारणा है । कविता को वे--

---

1. समीक्षा और आदर्श - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-8

"कविता मनुष्य की प्रतिभा का परिणाम है जो सीखने से नहीं आती । वह मस्तिष्क की उन प्रवृत्तियों का प्रगटीकरण है जो संवेदनात्मक होती है ।"[1]

डा० राघव के मत में "प्रतिभा" तो क्लाकार में आवश्यक है क्योंकि प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही अपनी संवेदनाओं को क्ला या साहित्य में प्रकट कर सकता है । अन्यथा संवेदना तो कम या अधिक प्रत्येक मनुष्य में होती है । फिर हर कोई साहित्यकार क्यों नहीं हो जाता ।" किंतु उनकी इस प्रतिभा से सम्पन्न क्लाकार धर्म, अर्थ, अथवा यश-लिप्सा से ग्रस्त होकर क्ला का निर्माण नहीं करता अपितु अपनी संवेदनात्मक प्रकृतियों के कारण ही वह "क्ला" के निर्माण में सफल होता है । उनके विचार में क्लाकार का संवेदनशील और सदृश्य होना प्रथम शर्त है ।

"मानस मनोवृत्तियों" को साहित्य का हेतु समझने वाले "मनोवैज्ञानिक"अथवा फ्राडीय विचारों से प्रभावित लोगों के लिए भी उनका कहना है कि --

"मनोविज्ञान काव्य का मूलाधार नहीं ।"[2]

क्योंकि उनका विचार है कि --

"मैंने उपन्यास का मूलाधार भी अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति भाव को माना है और भाव के विषय में मेरा मत स्पष्ट ही है कि लोक कल्याण को समन्वित करके ही युग-सत्य के बीच मनुष्य की चेतना का निखार भाव को लेकर चलता है ।.... न मैं यौन वादी तृष्णा में व्यक्तिवाद और प्रयोगवाद का आश्रय लेना चाहता हूँ न प्रगतिवाद के चोले में अपने को यांत्रिक बना सकता हूँ । .... व्यक्ति की समस्याएँ

---

1. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-294
2. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-297

मुझे नहीं आती और वह भी व्यक्तिवादी टुंटपुजियेपन की ।"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि वे व्यक्तिवाद अथवा मानव मनोवृत्ति के हिमायती नहीं थे ।

साहित्य का उद्देश्य :

साहित्य का उद्देश्य क्या है ? इस विषय में भी आलोचकों में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलता है । साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन करना मन बहलाव अथवा उपयोगितावादी मात्र उपदेश देना बताते रहे हैं किंतु जैसे-जैसे सामाजिक विकास और जीवन में जटिलता आती गई है वैसे-वैसे साहित्य का उद्देय भी बदलता रहा है । डा० राघव के अनुसार ---

"साहित्य रचना का उद्देश्य है, मानव के यथार्थ सत्य में छिपे हुए आत्मा के सौन्दर्य को खोजकर भाव के माध्यम से विचार से समन्वय करके प्रस्तुत करना ।"[2]

आगे वे लिखते है कि ---

"इस उद्देश्य को साहित्य तभी प्राप्त कर सकता है जब वह युग के प्रति ईमानदार हो और बहुजन हिताय ही अपना समर्पण करे । साहित्य की रचना गम्भीर दायित्व तो है ही वह मानव अनुभूति का निरंतर होता रहने वाला परिष्कार है ।"[3] प्रगतिशील आलोचना साहित्य रचना का उद्देश्य "बहुजन हिताय" ही समझती है । व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रसार का लक्ष्य इसी भावना की ओर इंगित करता है ।

---

1. साहित्य संदेश - आधुनिक उपन्यास अंक जुलाई-अगस्त, 1956 पृष्ठ-87
2. समीक्षा और आदर्श - डा० रांगेय राघव -पृष्ठ 35
3. ,, ,, ,, ,, ,, ,, -पृष्ठ 36

साहित्य की आत्मा के संबंध में अपने मौलिक चिन्तन का परिचय देते हुँए डा० राघव ने लिखा है कि --"काव्य की आत्मा उसकी मानवीयता है । रस की निष्पत्ति वह साधारणीकरण द्वारा करती है, कल्पना उसका प्रसार है । सौन्दर्य-बोध उसका सत्य के विभिन्न रूपों से तादात्म्य है ।"[1]

मानवीय संवेदना के पक्षधर डा० राघव ने अपने मौलिक चिन्तन-मनन से रूढ़िगत एवं प्राचीन मतों के समक्ष नवीन विचार एवं व्यापक प्रगतिशील भावना से ओतप्रोत मतों का प्रतिपादन किया है । जिनमें मानव और उसकी उन्नति तथा उसकी हितचिन्ता के साथ-साथ उसकी सद्वृत्तियों, सद्इच्छाओं की पूर्ति की कामना है । मानवीय संवेदना-सदिच्छा उनके चिन्तन का मेरुदण्ड है । उनका कहना है कि --

"जो अनुभूति को संवेदना को जागृत करने में असमर्थ है वह काव्य नहीं है ।"[2]

उसका समस्त चिन्तन मानवतावाद का पक्षधर है । अतएव उनका यह कहना भी उचित है कि --

"रस प्रधान रचना ही काव्य की श्रेणी में आती है ।[3] इसीलिए उन्होंने आदि काव्य "रामायण" को कहा है जबकि कवि वेदव्यास को भी स्वीकार करते है किन्तु -- अरस स्थलों के कारण महाभारत को "इतिहास" कहते हैं । उन्हीं के शब्दों में --

"यद्यपि महाभारत-कार वेद व्यास को भी कवि कहा गया है किन्तु महाभारत को इतिहास माना गया है । शुद्ध काव्य तो रामायण

---

1. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-300
2. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-301
3. महाकाव्य विवेचन - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-138

को ही माना गया है । इसका प्रथम कारण तो यही है कि काव्य किसी विशेष रचना को ही माना गया । महाभारत में भी अरस स्थल होने के कारण उसे इतिहास माना गया । काव्य के मानदण्ड का बदल जाना ही इसका सबसे बड़ा कारण है । वैदिक काव्य नर काव्य नहीं था, अत: उसे पश्चवर्ती काल में काव्य नहीं माना गया । दूसरा कारण यह भी है कि वेद को अपौरुषेय माना गया और क्योंकि उसे ईश्वर कृत माना गया अत: उसे काव्य के अन्तर्गत न लेकर दिव्यवाणी के अन्तर्गत लिया गया ।"[1]

डा० राघव का विचार है कि साहित्य मानवीय संवेदना से पूर्ण होने के साथ-साथ रस प्रधान भी हो । नीरस रचना को साहित्य मानने के लिए वे तैयार नहीं । जो कि उचित ही है । मात्र तथ्य वर्णन को भी साहित्य कहने में हर जागरूक चिंतक को संकोच होगा ही ।

काव्य-वस्तु और रूप

काव्य की वस्तु और रूप पर अपने विचार प्रकट करते हुए डा० राघव ने कहा है कि --

"काव्य की वस्तु ही उसके रूप को बनाती है । इस प्रकार शरीर काव्य का विषय नहीं, आत्मा है । शरीर है रूप । हम किसी भी व्यक्ति के बाह्य रूप को देख कर ही यदि चमत्कृत हो सकते हैं तो हम वास्तव में व्यक्ति के पूर्ण रूप का अध्ययन नहीं करते । सज्जा का आधार रागात्मक वृति से सम्बन्ध नहीं रख सकता और काव्य वही है जिसका मनुष्य के भाव जगत् से सम्बन्ध है । इसलिए हम दोनों को अलग करके नहीं देख सकते ।"[2]

---

1. महाकाव्य विवेचन - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-138

2. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-118

"वस्तु" और "रूप" पर हुई विद्वानों के बहस के फेर में न पड़ कर डा० राघव ने दोनों को उपयोगी मानते हुए भी "वस्तु" तत्व पर बल दिया है ताकि मनुष्य के भाव-जगत् को व्यक्त किया जा सके ।

डा० राघव के साहित्य-सम्बन्धी विचारों से प्रगतिशील आलोचना को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में काफी सफलता मिल सकती है और "मानव-हित" भी अधिक से अधिक सम्भव है । अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण ही डा० राघव का विचार है कि --

"काव्य की परिधि-शास्त्रों से नियंत्रित नहीं होती, वह जीते जागते संसार का भाव चित्रण है, जो संवेदना के घात-प्रतिघात में जन्म लेता है ।"[1]

अन्तत: यही कहा जा सकता है कि डा० रांगेय राघव ने अपने मौलिक चिन्तन द्वारा प्रगतिशील आलोचना में काफी योगदान दिया है तथा साहित्य सम्बन्धी विचारों को नया प्रकाश प्रदान किया है ।

2. साहित्य और समाज का सम्बन्ध :

साहित्य का प्रेरणा स्रोत समाज ही है । प्रगतिशील आलोचना ने भी समाज को ही साहित्य का मूल स्रोत माना है । इसीलिए प्रगतिशील आलोचक साहित्य और समाज के परस्पर सम्बन्ध को विशेष महत्व देते हैं । समाज में होने वाले घात प्रतिघात से ही प्रेरित होकर रचनाकार साहित्य सृजन के लिए सक्रिय होता है । साहित्य के लिए विषय समाज से ही प्राप्त होते हैं । डा० प्रभुलात वैश्य के अनुसार --

"साहित्य समाज की चेतना में ही साँस लेता है । यह समाज का ऐसा परिधान है जो जनता के जीवन के सुख-दु:ख हर्ष विषाद, आकर्षण विकर्षण के ताने-बाने से बुना जाता है ।"[2]

---

1. महाकाव्य विवेचन - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-114
2. डा० प्रभुलात डी० वैश्य, डा० रांगेय राघव के उपन्यासों में युग चेतना

मानव सामाजिक प्राणी है । समाज के अनुभव, उसकी अनुभूतियां भावनाएं, कल्पना सब संघनित होकर साहित्य का रूप ग्रहण करती है । इसीलिए साहित्य में सामाजिक घटनाओं, समस्याओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है । साहित्य भी समाज की विविध घटनाओं, घात-प्रतिघातों से ही रूप ग्रहण करता है । समाज की नैतिक, धार्मिक, भौतिक प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्यिक प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन आता है । यह सच ही है कि --"प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चितवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है ।"[1]

प्रगतिशील आलोचक का प्रमुख ध्येय साहित्य और समाज के ऐसे आदर्श सम्बन्ध को रेखांकित करना होता है । संस्कृत और रीतिकाल तक के आचार्य साहित्य के कला सम्बन्धी तत्वों के विश्लेषण-मूल्यांकन में रत रहे, किन्तु आधुनिक काल में साहित्य और समाज के सम्बन्धों को रेखांकित किया गया । प्रगतिशील आलोचक इस सन्दर्भ में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं । साहित्य और समाज के पारस्परिक संबंध पर विचार करते हुए डा० राघव ने लिखा है कि --

"कवि या साहित्यकार की प्रतिभा वैयक्तिक होते हुए भी अन्ततोगत्वा समाज-गत होती है ।"[2]

उनका मानना है कि प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति समाज के विभिन्न क्रिया कलापों से ही साहित्य-सृजन के लिए सामग्री संचय करता है । सामग्री संचयन के पश्चात वह उपयुक्त परिस्थितियों में अपनी प्रतिभा से उसमें कलात्मकता का समावेश कर समाजगत सत्य का सूक्ष्म रूप से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रकटीकरण करता है । रचनाकार समाज में रहकर

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ-।
2. डा० रांगेय राघव - काव्य कला और शास्त्र पृष्ठ-4

ही अनुभव प्राप्त करता है और उसके ये मधु-तिक्त अनुभव ही उसे साहित्य रचना की प्रेरणा देते हैं । सामाजिक अनुभवों से ही रचनाकार में नवीन चेतना आती है । सामाजिक सन्दर्भों, युगीन यथार्थ से सम्पृक्त रचना ही महत्वपूर्ण एवं कालजयी होती है । इस विचार को डा० राघव ने इस प्रकार प्रकट किया है --

"जब तक काव्य वस्तु का सम्बन्ध समसामयिक व युगबोध से सम्पृक्त नहीं होता तब तक वह काव्य-कृति महान या लोकप्रिय नहीं हो सकती ।"[1]

कहने का अर्थ है कि साहित्य में युग-संदर्भ की ध्वनि अवश्य होनी चाहिए । युग-सन्दर्भ से कटा साहित्य लोकप्रिय नहीं हो सकता । अतएव साहित्य और समाज एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित होते हैं । साहित्य को समाज से "विषय" मिलते है तो समाज को साहित्य से अपनी विभिन्न समस्याओं के समाधान/ डा० राघव के कथनानुसार --

"साहित्य भावों के माध्यम से समाज की परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करता है ।

समाज की परिस्थितियों का सही आंकलन प्रस्तुत करना रचनाकार का परम कर्तव्य है । सही आंकलन करने वाले साहित्यकार को अपने युग के प्रति ईमानदार होना चाहिए तथा बहुजन हिताय ही अपना समपर्ण भाव रखना चाहिए । डा० राघव का विचार है कि --

"साहित्य का मनुष्य और उसके जीवन के यथार्थ में सम्बन्ध होता है । पंचवर्षीय योजनाएं साहित्य का सिरजन नहीं कर सकती । उनके लिए लिखा गया साहित्य श्रेष्ठ साहित्य नहीं हो सकता ।"[2]

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य कला और शास्त्र पृष्ठ- 63
2. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-152

मात्र नारेबाजी अथवा प्रचार के लिए लिखा गया साहित्य ललित साहित्य नहीं होता । युग-युग से मानव हृदय को "रस" प्लावित कर आनन्दानुभूति एवं प्रेरणा प्रदान करने वाला साहित्य ही ललित साहित्य की कोटि में आता है । ऐसे साहित्य के सृजन के लिए कलाकार में संवेदनशीलता, सहृदयता एवं सबसे बड़ी चीज "सदिच्छा" का होना अनिवार्य है । तत्कालीन सन्दर्भों से संवेदनशील रचनाकार कभी अछूता नहीं रह सकता । बाबू श्याम सुन्दर दास के शब्दानुसार --

"हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कवि भी तत्कालीन सामाजिक जीवन और सांसारित परिस्थितियों से बचा नहीं रह सकता है ।"[1]

रचनाकार समाज में रहकर ही यथार्थ से अवगत होता है । यथार्थ बोध से ही साहित्यकार उच्च कोटि का साहित्य रच सकता है । समाज से कटा व्यक्ति साहित्य तो क्या रचेगा उसका तो पूरी तरह से सामाजीकरण भी नहीं हो पाता । भारत के प्राचीन उच्च और श्रेष्ठ साहित्य की पृष्ठभूमि में भी समाज के यथार्थ को भोगे हुए व्यक्ति ही हैं । डा० रांगेय राघव का मत निम्न है --

"भारतीय साहित्य ने उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है । इसके मूल में हमें समाज से भाग हुए व्यक्ति नहीं मिलते, वे जीवन संग्राम में ही खेलते हैं ।"[2]

उनका अभिप्राय है कि महान चरित्रों के निर्माता समाज से जुड़े हुए व्यक्ति ही होते हैं । मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और भक्ति आंदोलन के उदय का कारण तत्कालीन सामन्त व्यवस्था, बढ़ता हुआ

---

1. बाबू श्याम सुन्दर दास - साहित्यालोचन "छठा संस्करण" काव्य यथार्थ और प्रगति से उद्धृत ।
2. काव्य यथार्थ और प्रगति - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-142

जातीय विद्वेष था । इस परिस्थिति ने कबीर जैसे विद्रोही संत, तुलसी जैसे समन्वयवादी जागरूक महान कवि को "रामचरित्रमानस" जैसे महान् काव्य की रचना के लिए प्रेरित किया । डा० राघव का मत है कि --

"अकबर ने हिन्दू और मुस्लिम सामन्तों की जागीर प्रथा को तबाललेनुमा नौकरी बनाकर साम्राज्य सत्ता में बादशाह की शक्ति को सर्वोपरि बना दिया था ।"[1] फलस्वरूप तत्कालीन समाज की बदतर स्थिति हो गयी थी । अतएव डा० राघव के शब्दानुसार ---

"तुलसीदास ने फिर रामराज्य का "यूटोपिया" खड़ा किया और बड़े कायदे से भक्ति को दरबार का सामन्ती रूप देकर मुगल वैभव और शोषण के विरुद्ध भारतीय जनता को रामराज्य का आदर्श और सुख दिखा कर विदेशी संस्कृति के विरुद्ध उभाड़ा ।"[2]

कहने का तात्पर्य यही है कि समाज व्यवस्था ने कबीर, तुलसी आदि भक्त कवियों को प्रेरणा दी जिसके कारण मध्ययुगीन महान् काव्य की रचना हो सकी ।

समाज व्यवस्था व्यक्ति को प्रभावित करती है । व्यक्ति की इच्छा मात्र से समाज व्यवस्था पलटती नहीं । यह सत्य है, किन्तु व्यक्ति समाज को अपनी मौलिकता, नवीनता एवं विचारशीलता से नई रोशनी की ओर उन्मुख तो अवश्य कर सकता है । जैसा कि प्रेमचन्द जी ने स्वीकार किया है कि --

"व्यक्ति अन्ततोगत्वा समाज की सीमा में ही बन्द होता है ।"[4]

---

1. काव्य यथार्थ और प्रगति - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-142
2. महाकाव्य विवेचन - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-108
3. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-108
4. काव्य यथार्थ और प्रगति से उद्धृत पृष्ठ-114

लेकिन साहित्यकार समाज की उस सीमा को तोड़ने में सक्षम होता है जो समाज की प्रगति में बाधा पहुँचाती है । साहित्यकार समाज से प्रेरणा अवश्य लेता है किन्तु अपनी प्रतिभा से वह सामाजिक तथ्यों में बहुत कुछ ऐसा परिवर्तन कर देता है जो असदवृत्तियों के क्षमण और सद्वृत्तियों के उन्नयन में सहायक होता है । इसीलिए डा॰ राघव ने लिखा भी है - "साहित्य समाज की व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिम्ब होता है किन्तु प्रतिबिम्ब होने का अर्थ यह नहीं कि वह केवल अरस्तु के शब्दों में नकल होता है ।"[1]

साहित्य में सामाजिक यथार्थ की व्यंजना अवश्य होती है किन्तु सूक्ष्म या अप्रत्यक्ष रूप में ही । सीधे-सीधे यथा तथ्य वर्णन रिपोर्ट प्रस्तुत करना होगा न कि साहित्य निर्माण ।

अत: हम देखते हैं कि डा॰ रांगेय राघव साहित्य और समाज के परस्पर अन्योन्यश्रित सम्बन्ध के पक्षधर हैं ।

§3§ वर्गीय चेतना और वर्ग संघर्ष

"चेतना शब्द बड़ा ही व्यापक है । इसे "बोध" या "चैत्य" के समानार्थक शब्द के रूप में ग्रहण किया जाता है । "चेतना" मनुष्य की वह विशेषता है जो उसे व्यक्तिगत विषय में तथा अपने वातावरण के विषय में ज्ञान कराती है । चेतना का विकास सामाजिक वातावरण के सम्पर्क से होता है । समाज में रहते हुए तथा लोगों के आपसी व्यवहार आचार-विचार आदि से मनुष्य की चेतना सहज ही अपनी वर्गीय स्थिति को जान लेती है । समाजगत वर्गीय-भेद का ज्ञान चेतना से ही सहज-सम्भव है ।

---

1. रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति से उद्धृत, पृ॰-114.

"वर्गीय-चेतना" का उदय कैसे होता है ? इस सम्बन्ध में डा० राघव का विचार है कि --

"सब व्यक्तियों की मेधा एक सी नहीं होती । कोई अधिक बुद्धिमान होता है, कोई कम । अधिक बुद्धिमान व्यक्ति युग की परिस्थिति का पहले ही प्रतिनिधित्व करता है, पहले ही सोच लेता है । इसलिए कि व्यक्ति ही समाज का अंग है, व्यक्ति के माध्यम से ही समाज अपना काम करता है ।"[1] उनका आगे विचार है कि --

"यह कभी भी आवश्यक नहीं है कि शोषित वर्ग का व्यक्ति ही शोषित वर्ग का हिमायती बनता है, कोई भी व्यक्ति युग का कल्याण कर सक्ता है ।"[2]

वर्गीय चेतना का उदय सामाजिक सम्बन्धों और उत्पादन के साधनों और वितरण के माध्यम की परीक्षा करने से होता है, क्योंकि मनुष्य का इतिहास इसका साक्षी है कि आज तक शोषण किसी न किसी रूप में जीवित रहा है । समाज की अवस्था बदली है, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध बदले हैं किन्तु शोषण अपने मूल रूप में आज भी विद्यमान है । मार्क्स के अनुसार --"समाज का आजतक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है । साहित्यकार भी एक सामाजिक व्यक्ति है, अत: वह भी वर्ग संघर्ष की इस भावना से तटस्थ नहीं रह सक्ता । उसे भी किसी न किसी वर्ग का साथ देना होगा ।"[3]

डा० राघव का विचार भी है कि "पहले दास प्रथा थी, दासों से निम्न काम या कमकर वर्गीय काम लिये जाते थे ।"[4]

---

1. रांगेय राघव काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-67
2. ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-67
3. आलोचना नवांक जुलाई 1965 पृष्ठ 158 से उद्धृत
4. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-45

प्रगतिशील आलोचना में समाज के शोषित वर्ग की पक्षधरता पर विशेष ध्यान दिया जाता है । साहित्यकार की पक्षधरता उसकी प्रतिबद्धता पर विशेष बल दिया जाता है कि रचनाकार उच्च वर्ग का पक्षधर है या निम्न वर्ग का । रचनाकार की पक्षधरता उसकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है । उच्च वर्ग का हिमायती रचनाकार उच्च वर्ग के अधिकारों की रक्षा के लिए रचना करता है जबकि आज समाज में पूंजीपति वर्ग के पक्षधर साहित्यकार को महत्व नहीं दिया जाता । पैसे के हाथ बिका साहित्यकार कभी भी अपने कर्तव्य के प्रति पूर्ण ईमानदारी नहीं निभा सकता । इसी प्रकार किसी पार्टी विशेष के प्रचार हेतु लिखे जाने वाले साहित्य को भी प्रगतिशील आलोचना मान्यता नहीं देती । डा० राघव ने इसीलिए लिखा भी था कि --

"किसी पार्टी विशेष के प्रचार हेतु लिखने की अपेक्षा क्लम तोड़ कर फेंक देना अधिक श्रेयस्कर होगा ।"[1]

जैसाकि हम जानते हैं कि प्रगतिशील आलोचना समाज के प्रति अधिक जागरूक है । समाज के विकास और परिष्कार पर विशेष बल देती है, अतएव समाज में वर्गीय विभाजन एवं वर्गीय चेतना को प्रगतिशील आलोचना की केन्द्रीय धुरी स्वीकार कर सकते हैं । किन्तु कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्गीय चेतना अथवा वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त से प्रगतिशील आलोचना के वर्गीय चेतना एवं वर्ग संघर्ष की धारणा में पर्याप्त भेद है । यह सच है कि वर्ग संघर्ष की अवधारणा से प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिशील आलोचना पर्याप्त रूप से प्रभावित है । मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त इसकी मूल प्रेरणा शक्ति भी है क्योंकि वर्गीय चेतना समाज में रहने से ही आती है जैसा कि स्तालिन का विचार है कि ---

"उत्पादन की प्रणाली जैसी होती है, वैसा ही समाज भी होता है । समाज के विचार, सिद्धान्त, राजनीतिक दृष्टिकोण आदि सभी वैसे ही होते हैं ।"[2]

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-65

यह ठीक है कि शोषक और शोषित आदिकाल से ही समाज में रहे हैं किन्तु आधुनिक युग में "धन के मनुष्य के उपर आ जाने से संसार में आज घोर विषमता फैली हुई है ।"[1]

समाज में व्याप्त विषमता के कारण ही आज साहित्य और साहित्यकार की प्रतिबद्धता का प्रश्न आलोचना जगत में प्रमुख हो उठा है ।

प्रगतिशील आलोचना में वर्गीय-चेतना की अनुगूंज पर विशेष ध्यान दिया जाता है । किन्तु डा० राघव मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं । उनका मत है कि "भारत में सामन्तीय व्यवस्था में वर्ण भेद वर्ग भेद का ही प्रतीक है । ××× उच्च वर्णों में निम्न वर्णों के प्रति घृणा किसी भी मार्क्सवादी के पहले भारत में विद्यमान थी, सन्तों में जो निम्न वर्णों के पक्ष में आवाज उठाई थी, वह तत्कालीन युग सीमा में होने वाले वर्ग संघर्ष का ही पर्याय थी ।"[2]

मार्क्स ने जहां पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग अथवा शोषक शोषित वर्ग तथा उनके बीच आपसी संघर्ष का विवेचन किया है उसी को भारतीय समाज एवं संस्कृति के अनुरूप डा० राघव ने वर्ग संघर्ष को वर्ण संघर्ष अथवा जाति-भेद के रूप में प्रतिपादित किया है । भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा समाज व्यवस्था के अनुरूप होने के कारण डा० राघव का वर्ण-संघर्ष का सिद्धान्त प्रगतिशील आलोचना एवं प्रगतिशील दृष्टि-कोण को एक नवीन देन है । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है --

---

1. डा० रांगेय राघव - समीक्षा और आदर्श, पृष्ठ 131
2. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ 77-78

"भारतीय समाज का विकास यूरोप के समाज के विकास से भिन्न रहा है, यद्यपि वर्ग संघर्ष आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव, विकास क्रम की मंजिलें प्राय: एक रूप में रही है ।"[1] "भारत में वर्ग संघर्ष वर्ण संघर्ष के रूप में रहा है ।"[2]

प्रगतिशील आलोचक होने के कारण डा० राघव ऐसे साहित्य को ही श्रेष्ठ मानते थे जिसमें --"प्रकट या अप्रकट रूप से समाज की विषमताओं को प्रदर्शित करके शोषित वर्णों की हिमायत की है, जो आज की परिस्थितियों में वर्गहीन समाज के लिए ही विकास क्रम की सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ता हुआ मनुष्य को उठाने वाला है ।"[3]

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्स ने दुनिया को अवश्य दिया किंतु भारत के लिए उनका यह सिद्धान्त इतना अधिक प्रभावपूर्ण नहीं था । इसका मुख्य कारण है भारत की जाति व्यवस्था । डा० राघव ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि --"हमारे देश की जातियाँ अपने अपने अधिकारों और कर्तव्यों को लेकर सदियों से चली आती हैं । उच्च वर्णों की निम्न वर्णों के प्रति घृणा किसी भी मार्क्सवादी से पहले भारत में विद्यमान थी ।"[4]

प्रगतिशील आलोचना और प्रगतिशील साहित्य शोषण चाहिए वह किसी रूप में हो सदैव उसका विरोध करता है । डा० राघव के विचारानुसार --"आज ही नहीं, वह कालिदास के युग में भी यही देखता है कि

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति - पृष्ठ 46
2. ,, ,, ,, ,, ,, - पृष्ठ 98
3. डा० रांगेय राघव - आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रेम व शृंगार पृष्ठ-7
4. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-78

उस समय कौन शोषक वर्ग का हिमायती था और कौन नहीं ।"[1]

शोषक और शोषित आदि काल से ही समाज में रह रहे है किन्तु आधुनिक युग में "धन के ही मनुष्य के उपर आ जाने से संसार में आज घोर विषमता फैली हुई है ।"[2] पूंजीवाद ने समाज के वर्ग भेद को अधिक विषम बना दिया है जिसके फलस्वरूप एक बहुत बड़ा वर्ग आर्थिक दासता की श्रृंखलाओं में जकड़ा हुआ है । आर्थिक विपन्नता के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व निष्प्राण संकीर्ण और रंद्ध हो जाता है । डा० राघव किन्तु मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को भारतीय समाज एवं उसकी सभ्यता व संस्कृति के अनुरूप वर्ग संघर्ष की बजाय वर्ण संघर्ष के रूप में स्वीकार करते है । "व्यक्ति को वे वर्ग स्वार्थ का पुतला नहीं समझते ।"[3] साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वर्ग-संघर्ष का ज्ञान मार्क्स ने ही दुनिया को कराया । उन्हीं के शब्दों में --"प्राचीनों की सीमाएं थी, वे जिस युग में रहते थे उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते थे । कार्लमार्क्स से पहले यह ज्ञान समाज में नहीं था ।"[4]

मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर कुछ विद्वानों ने आक्षेप लगाए । श्री राजेन्द्र प्रसाद उनमें से एक है । उनके आक्षेपों का जवाब देते हुए डा० राघव ने स्पष्ट किया कि "वर्ग संघर्ष से घृणा की बू नहीं आती तथा वह सन्तोष उचित नहीं जो असाम्य पर पर्दा डालता है । जो विद्वान वर्ण संघर्ष को हाल ही की उपज समझते है वह गलत हैं तथा त्याग पक्ष

---

1. डा० रांगेय राघव - प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड -पृष्ठ-2
2. डा० रांगेय राघव - समीक्षा और आदर्श पृष्ठ-131.
3. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-67.
4. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-72.

को शोषण पक्ष से उंचा समझना भूल ही होगा । क्योंकि युग सीमा की आदर्श व्यवस्था तत्कालीन परिस्थितियों की सापेक्षता में उचित नहीं । वर्ग-संघर्ष से उत्पन्न असंतोष भी अनुचित नहीं । हाँ, डा० राघव यह भी कहते हैं कि --

"वर्ग संघर्ष के कारण यह उचित नहीं है कि "शोषित वर्ग शोषक वर्ग के व्यक्ति से घृणा करे ।" हमारा साहित्य परम्परा से ही जन कल्याण की भावना से अनु प्राणित है उसमें अपने-अपने युग के बन्धनों के अनुरूप शोषित वर्गों की हिमायत की गई है ।"[1]

इस प्रकार अन्तत: हम देखते हैं कि डा० रांगेय राघव का दृष्टि-कोण वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को लेकर अन्य मार्क्सवादियों से पर्याप्त भिन्नता लिए हुए है । प्रत्येक युग में वर्गों के सम्बन्ध अथवा बाह्य सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता रहा है । नये-नये विचारकों ने उनके बीच सम्बन्धों के तनाव की समस्या का हल खोजने का यत्न किया । डा० राघव ने भी भारतीय समाज एवं उसकी व्यवस्था के अनुरूप वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को वर्ण संघर्ष अथवा विभिन्न जातियों की उंच-नीच की भावना के रूप में प्रतिपादित किया है । भारत में व्याप्त जाति व्यवस्था व वर्ण व्यवस्था को देखते हुए उनका यह निष्कर्ष उचित है । डा० राघव मार्क्स के वर्ण संघर्ष को क्रांति द्वारा नहीं अपितु सामाजिक चेतना एवं लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन ला कर दूर करना ज्यादा श्रेयस्कर मानते हैं । उनका विचार है कि वर्गों के आपसी संघर्ष की अपेक्षा मानवीय संवेदना पूर्ण ढंग से विचार करना ज्यादा उचित है । उनका कहना है कि --"मार्क्सवाद भी उसी प्राचीन भारतीय मानवतावाद का युग सापेक्ष रूप है ।"[2]

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-75.
2. आलोचना नवांक जुलाई 1965.

मार्क्स के वर्ग संघर्ष एवं द्वन्द्वात्मक संघर्ष की अपेक्षा सामाजिक चेतना के विकास के पक्षधर है । उनका मत है कि --"आर्थिक विषमता के लिए किसी एक व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता । जब तक परिस्थितियों को बदला नहीं जाएगा आर्थिक विषमता समाप्त नहीं होगी । लोगों को उद्‌बुद्ध करना होगा ।"[1]

डा० राघव का अपना मौलिक चिन्तन था । उन्होंने अपने इतिहास-बोध एवं भारतीय समाज व्यवस्था तथा परिवर्तित होते हुए समाज के अनुरूप वर्ग संघर्ष और वर्गीय चेतना के सिद्धान्त को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर हिन्दी आलोचना जगत में प्रतिपादित करते हुए प्रगतिशील आलोचना को पूर्णता प्रदान करने का महान कार्य किया । उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की प्रगतिशील दृष्टि से व्याख्या की और जो तर्क की कसौटी पर खरे उतरे उन्हें अपनाते हुए साहित्य आलोचना को रूढ़िबद्ध होने से रोका । मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी आलोचकों के विचारों से ग्रहण करते हुए तथा आरोपों का जवाब देते हुए डा० राघव ने अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक एवं संतुलित बनाया । डा० राघव के इस योगदान के लिए प्रगतिशील आलोचना सदैव उनकी आभारी रहेगी ।

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार पृष्ठ 5।।

चतुर्थ अध्याय

"रांगेय राघव की आलोचना में उनका यथार्थ-बोध"

1. यथार्थ के प्रति दृष्टि :

साहित्य में यथार्थवाद का प्रवेश तो बहुत पुराना है किन्तु उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रकारान्तर से आकर उपस्थित हुआ । इस विषय में डा० राघव का मत है कि यूरोप की तुलना में भारतीय परम्परा में यथार्थ की अलग ही समस्या थी । उन्हीं के शब्दों में --"यूरोप में मध्यवर्गीय चिन्तन ने अपने निराशावाद से साहित्य में "व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद" को जन्म दिया और उसके साथ ही अन्य ऐसे अनेक प्रकार के वादों को भी जन्म दिया कि भारतीय परम्परा ने अपने सामने नयी ही समस्या को पाया ।"[1] वे आगे लिखते है कि --"भारतीय काव्य ने अपने लम्बे जीवन में अनेक मंजिलों को पार किया था । वैदिक काव्य में स्तुतियाँ थी । उपनिषदों में चिन्तन । किन्तु स्वयं भारतीय परम्परा ने सामन्त-वाद की उदय कालीन रामायण के रूप में वास्तविक काव्य को स्वीकृत किया क्योंकि वह मनुष्य सम्बन्धी काव्य था । उसके बाद ही भारत में विभिन्न विचारों के स्कूल मिलते हैं जो काव्य की व्याख्या तो करते है किन्तु यथार्थ को उनमें उस रूप में नहीं पाया जाता जिस रूप में आधुनिक विद्यार्थी देखता है ।"[2]

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-।
2. ,, ,, ,, पृष्ठ-।

आधुनिक विद्यार्थी यथार्थ वर्णन को यथा तथ्य वर्णन का पर्याय समझते हैं । वस्तुत: इस धारणा के पीछे मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी खेमे से उठी वह प्रवृत्ति है जिस पर डा० राम विलास शर्मा ने विरोध प्रकट करते हुए लिखा था कि --"सन् 1934-35 के बाद से हिन्दी में यह साड़ी जम्फर बढ़ती, फूलती, पनपती रही है ।"[1] एवं आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने आक्षेप किया था कि --"उपदेशात्मकता में वे तीस साल पूर्व की ओर बढ़ रही हैं और श्रृंगारिकता में बिहारी लाल से होड़ करती हैं ।"[2]

यथार्थ वर्णन की ऐसी परम्परा का विरोध डा० रांगेय राघव ने भी किया था । उनका विचार था कि --

"भारतीय मनिषियों ने जो काव्य-रस की व्याख्या की उसमें यथार्थ उस रूप में नहीं है, उन्होंने लोक मंगल के पक्ष को ग्रहण किया है उसमें ही समाज का यथार्थ पक्ष समाहित है । आगे उनका मानना था कि कालान्तर में उन्होंने {भारतीय मनीषियों ने} लोक मंगल को "रस" के चरणों पर बलिदान कर दिया और रस के लिए "भाव" "विभाव" "अनुभाव" आदि पद के बाद अस्थायी और "संचारी भावों" के विश्लेषण पर ही सब कुछ निहित कर दिया ।"

यथार्थ के प्रति डा० राघव का स्पष्ट मत है कि साहित्य में "समाज पक्ष" जितना प्रबल होगा उतना ही यथार्थ का अंकन होगा । रीतिकालीन काव्य में समाज पक्ष गौण रूप में वर्णित हुआ है इसीलिए वे लिखते हैं --

---

1. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ - डा० रामविलास शर्मा पृष्ठ-60.

2. 1940 में पूना में हुए अधिवेशन की साहित्य परिषद से दिए गए भाषण में -- आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी.

"रीतिकालीन काव्य में हमें समाज-पक्ष अधिक अधिक गौण होता हुआ मिलता है । ऐसी परिस्थिति में यथार्थ की आवश्यकता ने प्रवेश किया और भारतेन्दु ने उसे चित्रित भी किया । किन्तु यह धारा आगे चलकर रुक गई ।"[1]

यथार्थ वर्णन की इस धारा के रुकने का कारण उन्होंने भारतेन्दु की सामाजिक अभिव्यक्ति में गहराई का अभाव बताया है । राघव जी का विचार था कि हिन्दी लेखकों के समक्ष चार प्रकार का यथार्थ वर्णन था --

1. रामायण में चित्रित यथार्थ वर्णन जिसमें समाज पक्ष प्रमुख था ।
2. तुलसी का रामचरित मानस जिसमें अपने प्रकारान्तर से समाज पक्ष था ।
3. भारतेन्दु कालीन यथार्थवाद
4. द्विवेदी कालीन इतिवृतात्मक वर्णनों से बिम्बित समाज पक्ष ।"[2]

डा० राघव का कहना है कि उपर्युक्त चार प्रकार के यथार्थ वर्णन से आधुनिक हिन्दी लेखकों की यथार्थ भूख नहीं मिटी । क्योंकि अब तक मार्क्स का चिन्तन और दूसरी ओर फ्रायड का चिन्तन अपना प्रभाव छोड़ चुके थे । अतएव उनका कहना है कि --

"यथार्थवाद ने समाजपक्ष में मार्क्सवाद को पकड़ा और व्यक्ति पक्ष में फ्रायड वाद को ।"[3]

डा० राघव न तो मार्क्सवाद के अन्धानुयायी हैं और न फ्रायड वाद के । बल्कि यथार्थवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा ही स्वस्थ और स्पष्ट है ।

---

1. काव्य यथार्थ और प्रगति - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-20
2. वही, पृ-
3. वही, पृ-

उनका मानना है कि यथार्थवाद में समाज की विषमताओं का चित्रण किया जाना चाहिए तथा इन विषमताओं को पैदा करने वाली व्यवस्था के प्रति घृणा उत्पन्न करनी चाहिए । जिसमें यह विषमताएं सहज रूप से चलती हैं । समाज पर आर्थिक कारणों के प्रभाव एवं शोषण के रूपों को दिखाना चाहिए । साथ ही जैसा है वैसा चित्रण करके ही नहीं छोड़ देना चाहिए बल्कि लेखक को अगुआ बनने के लिए पथ-प्रदर्शन करना चाहिए । किन्तु हिन्दी साहित्य में विशेषकर सन् 1936 के बाद यथार्थवाद के नाम पर जो प्रवृत्तियां उभरी उनकी ओर इंगित करते हुए डा० राघव लिखते हैं कि --

"एक लेखक वर्ग ने परिवर्तन की ओर इंगित किया, और दूसरे वर्ग ने उस परिवर्तन को बहुत स्पष्ट रूप देने के लिए उपदेशात्मकता और स्पष्ट प्रचारात्मकता को अपनाया । इस दूसरे वर्ग की प्रवृत्ति ने धीरे-धीरे अपनी राजनीतिक विचारधारा अथवा अपनी पार्टी के आदेशों को शुष्क राजनैतिक रूप में साहित्य में उतारा । परिणाम स्वरूप कुत्सित समाज शास्त्री दृष्टिकोण ने यथार्थ को संकुचित, सीमित और विकृत कर दिया । ××× समाजवादी यथार्थ की इस आवेशित प्रवृत्ति ने वास्तविक यथार्थ को धीरे-धीरे पीछे छोड दिया और वह जन सत्य के स्थान पर पार्टी "सत्य" को प्रश्रय देने लगा ।।

हिंदी साहित्य पर इस प्रकार का आरोप लगाने वाले मात्र डा० रांगेय राघव ही नहीं हैं वरन सभी प्रगतिशील आलोचकों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया, जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है ।

---

1. काठ्य यथार्थ और प्रगति - डा० रांगेय राघव पृष्ठ-3

यथार्थ वाद के विभिन्न रूप :

यथार्थ वाद कई रूपों में साहित्य में प्रकट होता रहा है । जो कि विशेषकर समाज पक्ष और व्यक्ति पक्ष पर बल देने के कारण स्थूल रूप में समाजवादी यथार्थ वाद और व्यक्तिवादी यथार्थ के रूप में दीख पड़ता है । समाज पक्ष के विपरीत व्यक्ति पक्ष प्रधान यथार्थ वाद अथवा "फ्रायडवादी" लेखकों में पलायनवादी प्रवृत्ति बढ़ी और समाज के शोषण से व्यथित जन-समाज की मुक्ति के लिए जो मार्ग चुना वह स्थूल रूप में प्रकृतवाद था, जिसमें अतियथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद जैसे वादों को प्रश्रय दिया गया । अपनी प्रसिद्ध पुस्तक संगम और संघर्ष में यथार्थवाद पर विचार करते हुए डा० राघव ने लिखा --

"एक है अति यौन वाद, नग्नचित्रण जो भी यथार्थ के नाम पर प्रस्तुत किया जाता है । दूसरी ओर है साम्यवादी यथार्थवाद । आज तो बहुतेरे प्रतीक वाद को भी यथार्थ कहने लगे हैं । प्रश्न है -- यथार्थ क्या है ? समाज में उसका रूप क्या है ? साहित्य में उसका स्थान क्या है ?...."[1]

"यथार्थ वाद" क्या है इस पर डा० राघव के विचार बहुत ही स्पष्ट हैं । उनका कहना है कि --

"यथार्थ है जीवन का वह वास्तविक चित्रण जो समाज का पूरा चित्र उतार देता है । समाज में उसका रूप है उन शक्तियों को बल पहुंचाना जो समाज की विकृतियों को दूर करने के यत्न में लगी हैं ।"[2]

---

1. रांगेय राघव ग्रंथावली खण्ड-10 - सं० डा० सुलोचना राघव पृष्ठ-251.
2. रांगेय राघव ग्रंथावली खण्ड-10 - सं० डा० सुलोचना राघव पृष्ठ-252.

अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण ही डा० राघव यथार्थवाद के प्रति उचित निर्णय दे सके है । समाजवादी यथार्थ वाद और व्यक्तिवादी यथार्थ वाद के स्थूल पक्ष का वे विरोध करते हैं । उन्हें के शब्दों में --

"यौनवाद के समर्थक दुहाई देते हैं कि क्या हमारे समाज में यौन समस्याएं नहीं हैं ? उनके लिए उत्तर है -- है । परन्तु नग्न चित्रण यदि रस लेकर भावनाओं को विकृत करने के लिए है तो वह हमें शरीर की उन परिधियों में घेर लेता है जो समाज की सामाजिकता के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों को स्थान देती हैं । हम समाज में दिगम्बर नहीं रहते ।..... समाज केवल यौन समस्याओं का ही भण्डार नहीं है । यौन समस्याओं का उतना ही रूप श्रेयस्कर है जो अपने सापेक्ष रूप में उचित और स्वस्थ है ।"[1]

इसी तरह समाज पक्ष को अत्यधिक बल देने वाले यथार्थ वाद के लिए भी उनका कहना है कि ---

"साम्यवादी यथार्थवाद के बारे में भ्रम है कि केवल मजदूर किसान के विषय में लिखा साहित्य ही साम्यवादी यथार्थवाद है । ××× प्रतीकवाद वहीं ठीक है जो भले ही प्रतीकों में सही, पर समाज की प्रगति को रोकता नहीं, अनजाने या जाने ढंग से उन शक्तियों को नहीं बढ़ाता जो हमारे सामाजिक जीवन को अवरुद्ध करती हैं ।"[2]

यथार्थ वाद का एक अन्य प्रमुख रूप है ऐतिहासिक यथार्थ वाद ऐतिहासिक यथार्थ वाद में प्रत्येक युग में वास्तविकता को खोजना ।

---

1. रांगेय राघव ग्रन्थावली भाग 10 - सं० डा० सुलोचना राघव पृष्ठ-252.

2. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-252.

समाज के सम्बन्धों को ठीक तरह से देखना । अर्थात् समाज जिस युग में जितना आगे बढ़ता है, जितनी उस पर रोकें थी दोनों का संतुलित दृष्टि से मूल्यांकन करना । डा० राघव का विचार है कि "ऐतिहासिक यथार्थ इतिहास के गहरे अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता है ।" इतिहास ही तो हमें बताता है कि हमारे समाज का विकास कैसे हुआ ? हम जिसे अज्ञान से सनातन कहते हैं वह क्या है ? मनुष्य के मुक्ति के प्रयत्न में कितने सम्प्रदाय नहीं बन चुके शभिक्षु बनकर मनुष्य ने रह लिया, उसने भोगी बनकर देख लिया, शव पर स्थिर होकर श्मशान में मदिरा पीकर, तांत्रिक ने लता साधन किया, सखी सम्प्रदाय में पुरुष स्त्री के कपड़े पहन कर स्त्री बनकर रह चुका, किन्तु मनुष्य का समाज किससे सुखी हो सका ?"[1]

मनुष्य जीवन को सुखी बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा है । जीवन में विकास करने की प्रवृत्ति ही उसे विभिन्न क्षेत्रों में खोज के लिए प्रोत्साहित करती है । समाज में यथार्थ वह इसीलिए ढूंढता है कि हमारा विकास हो सके । प्राचीन के प्रति अज्ञान से ही हमारी अंध भक्ति प्राचीन को पूज्य मान बैठती है । इतिहास को यथार्थ रूप में जानने के लिए डा० राघव के विचारानुसार आवश्यकता है --

"इतिहास के यथार्थ वाद, उसके वैज्ञानिक अन्वेषण और एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ।"[2] तथा जिस विज्ञान में इतिहास सम्बन्धी उचित दृष्टि का अभाव है या जिस विज्ञान में इतिहास बोध का अभाव

---

1. रांगेय राघव ग्रंथावली भाग 10 - सं० सुलोचना राघव पृष्ठ 255.
2. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, 256.

है उसके लिए डा० राघव ने कठोर रुख अपनाते हुए कहा है कि --

"जो लेखक केवल धार्मिक दृष्टिकोण को ही लेता है और सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों को छोड़ देता है वह वास्तव में विकृत समाजशास्त्री है उसे कुत्सित धर्मान्धता कहना चाहिए जो वैज्ञानिक चिन्तन की बुनियादों को काटता है ।"[1]

ऐतिहासिक यथार्थ की कसौटी है लेखक का निष्पक्ष होना । न तो वह हिन्दू है न मुस्लिम । जैन न बौद्ध, उसके सामने एक ध्येय है कि वह समाज के उस अविच्छिन्न प्रवाह को प्रदर्शित करे जिसमें अनेक व्यापार अपने वर्ग-स्वभाव के द्वारा प्रभावित होकर कैसे युग-युग से चलते आ रहे हैं ? शोषण का प्रभाव अलग-अलग युगों में कैसा रहा है ? कैसे जनता पर उसका नियन्त्रण था और शोषित किस रूप में उसे स्वीकार करते थे । डा० राघव का विचार है कि --"मार्क्सवाद को जानने वाला इसे अधिक सफलता से कर सकता है पर मार्क्सवाद से अपरिचित महान लेखकों ने भी समाज के स्तरों को अपनी दृष्टि से देखा है और वे मानव के इस युगान्तर के संघर्ष को देख सके हैं और उन्होंने निरन्तर मनुष्य को गतिशील बनाया है ।"[2]

ऐतिहासिक यथार्थ वाद वास्तव में किसी युग की राजनीति को ठीक से समझ लेना है । न कि जैसा का तैसा चित्रण कर देना है । उसमें वर्ग-भेद के कारणों को समझना, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को जानना है । वर्ग भेद का यह विकास अपने द्वन्द्वात्मक रूप में रहा है और द्वन्द्वों के भीतर भी विरोध रहे हैं ।

---

1. रांगेय राघव ग्रंथावली खण्ड 10 सं० सुलोचना राघव पृष्ठ 256.
2. ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ 258.

इन द्वन्द्वों के ज्ञान से अनभिज्ञ रचनाकार अथवा आलोचक सही ढंग से ऐतिहासिक यथार्थ के ज्ञान से शून्य रहेगा । डा० राघव इसीलिए लिखते हैं कि --"जब तक हम इतिहास को ठीक से नहीं समझते तब तक साहित्य को तो समझ ही नहीं सकते । इसलिए इतिहास समझना अत्यन्त आवश्यक है ।"[1]

इतिहास का ज्ञान रचनाकार को उस युग की यथार्थ परिस्थितियों को जानने समझने में सहायक होता है । सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों का ज्ञान भी आवश्यक होता है । जिनसे उस समय के समाज के धार्मिक विचारों और राजनीतिक परिस्थितियों के आलोक में लोगों के रहन-सहन जीवन के ढंग, जीवन में होने वाले विकास का बहुमुखी ज्ञान सहज ही हो जाता है । इतिहास-बोध न केवल भूतकालीन यथार्थ-बोध के लिए आवश्यक है बल्कि भूतकालीन ज्ञान से वर्तमान जीवन और भविष्य के लिए पथ-प्रदर्शन करने के लिए महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है । इतिहास का ज्ञान जीवन में की गई भूलों के सुधार और परिष्कार के लिए उपयोगी होता है । डा० राघव ने भी लिखा है कि--

"इतिहास यह बताता है कि प्रत्येक युग में मनुष्य ने अपने जीवन की ऐसी व्याख्या कर लेने की चेष्ठा की है कि उसके अनुसार अपने जीवन की सार्थकता को समझ सके ।"[2]

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-20
2. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-11

डा० राघव का विचार है कि यथार्थ वर्णन अथवा यथार्थ के विविध रूपों का ज्ञान और उनका साहित्य में प्रयोग करना ही उचित नहीं होता बल्कि मानव मात्र को सुखी बनाने के लिए किया गया यथार्थ वर्णन ही उपयोगी है । "आलोचना" 1952 में उन्होंने लिखा--

"साहित्य का सत्य कल्पना को बिल्कुल छोड़ नहीं देता, वह यथार्थ के आधार पर जितना ही दृढ़ होता है, उतना ही गहराईयों तक पहुँचता है ।"[1]

डा० रांगेय राघव यथार्थ को उतना ही उपयोगी समझते हैं जितना वह मानव हित में है । उन्हीं के शब्दानुसार --"यथार्थ अपने विविध रूपों के वैविध्य में मूलत: व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लोक-कल्याण के लिए प्रकट करता है और वह भाव पक्ष को ग्रहण किए बिना अशक्त होता है । यदि वह समाज पक्ष का भाव पक्ष में व्यक्ति से तादात्म्य करने में सफल होता है, तो वह स्थायी मूल्यों का सिरजन करने में समर्थ होता है ।"[2]

यथार्थ के प्रति डा० राघव का मत बहुत कुछ सन्तुलित था वे न अति यथार्थ के पक्षधर थे और न मात्र कल्पना की उड़ान भरने के पक्षपाती । उनकी दृष्टि में यथार्थ का वही रूप श्रेयस्कर है जो ---

"जीवित रहने वाले व्यक्ति को चलते समाज के भीतर देखता है और उस व्यक्ति के पूर्णतत्व को प्रतिबिम्बित करके, लोक-कल्याण की ओर ले जानेवाला वह वास्तविकता का चित्रण, जो उसे उदात्त बना

---

1. डा० रांगेय राघव, आलोचना 1952 पृष्ठ-56

2. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-4

कर सत्य की ओर प्रेरित करता है, वही वास्तविक यथार्थ वाद है ।

यथार्थ वाद में वे उसी को श्रेष्ठ समझते थे जिसमें "संकुचित सीमाओं के अन्तर्विरोधों को प्रकट करके मनुष्य को कुत्सित मनोवृत्ति से उबार कर उसे व्यापकतम दृष्टिकोण देना है । साथ ही उनका मानना है कि "व्यापकत्व के आकाश" को देखने की दौड़ धरती को भुला नहीं देती ."

यथार्थ सम्बन्धी डा० राघव के विचारों को जानने के पश्चात् यदि हम यह तय करना चाहें कि वे किस यथार्थवाद के पक्षधर हैं तो कहना कठिन हो जाएगा कि वे समाजवादी यथार्थ के पक्षधर हैं अथवा ऐतिहासिक यथार्थ वाद के । वस्तुत: डा० राघव का यथार्थ मानवता वादी यथार्थ है । मानव की समानता का स्वर भारतीय चिन्तन में अति प्राचीन है । मानवतावादी परम्परा की जड़ें हमारे यहाँ बहुत पहले से विद्यमान रही हैं । भारतीय समाज को जीवित रहने की शक्ति इसी मानवता वादी स्वर की देन है ।

भारतीय इतिहास के अच्छे ज्ञाता होने के कारण एवं मानवीय संस्कृति एवं धर्मों की मूल भावना के ज्ञाता डा० राघव स्वयं मानवीयता के पुजारी थे । उनका समस्त चिन्तन मानवीयता से ओत-प्रोत है । मानव के सुख और शांति के कामी डा० राघव के लिए निर्मल गुप्ता के

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-6
2. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-7

विचार उचित ही है कि --"रांगेय राघव अपनी प्रत्येक रचना में चिरन्तर मानवीय मूल्यों के पक्षधर एवं प्रतिष्ठाता के रूप में प्रस्तुत हुए हैं ।"[1]

डा० राघव के रचना कर्म का वैचारिक परिप्रेक्ष्य किसी विशेष "वाद" में न बंधकर जन-जन के शिवम् की मंगल कामना से ओत-प्रोत है । साहित्य समीक्षकों ने यद्यपि उन्हें प्रगतिशील चेतना का रचनाकार कहा है तथापि वे सच्चे अर्थों में मानववादी विचार दर्शन से अनुस्यूत कृतियों के प्रणेता रहे हैं । अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ही वे लिखते है --"भारतीय सामन्तवाद के उदय ने समाज को जो मानवतावादी विचार-धारा दी, उसी के आधार पर भारतीय विचारकों ने सामंतीय युग के प्रारंभिक काल की महान् पुस्तक बाल्मीकि रामायण को अपना आदि काव्य माना, क्योंकि वह काव्य भाव-प्रधान था, और उसमें मनुष्य का आदर्श वर्णन किया गया था ।"[2]

डा० राघव प्रगतिशील विचारों के आलोचक थे । उनकी प्रगतिशीलता मानव मात्र के हित के लिए थी । वे "काव्य की आत्मा उसकी मानवीयता"[3] मानते थे, आगे भी वे प्रगतिशील साहित्य के लिए लिखते हैं कि --

"प्रगतिशील साहित्य मानवतावाद को मानता है ।"[4] डा० राघव न किसी वाद में सीमित थे और न किसी की नक्ल ही उन्हें

---

1. निर्मल गुप्ता - रांगेय राघव को नाट्य कला पृष्ठ-5
2. डा० रांगेय राघव महाकाव्य विवेचन पृष्ठ-5
3. डा० रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृष्ठ-300
4. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ-346

स्वीकार थी । वे तो भाव के माध्यम से लोक कल्याण को समन्वित करके युग सत्य के बीच मनुष्य की चेतना का निखार चाहते थे । इसी लिए साहित्य रचना का उद्देश्य बताते हुए वे लिखते हैं कि--"साहित्य रचना का उद्देश्य है, मानव के यथार्थ सत्य में छिपे हुए आत्मा के सान्दर्य को खोज कर भाव के माध्यम से, विचार से समन्वय करके प्रस्तुत करना ।" इस उद्देश्य को साहित्य तभी प्राप्त कर सकता है जब वह युग के प्रति ईमानदार हो और बहुजन हिताय ही अपना समर्पण करे ।" आगे वे लिखते हैं कि "साहित्य की रचना गम्भीर दायित्व तो है ही, वह मानव अनुभूति का निरन्तर होता रहने वाला परिष्कार भी है ।"[1]

डा० राघव ने भारतीय संस्कृति के मानवतावादी तत्वों का सदैव समर्थन किया है । इनके मत से भारतीय चिन्तन का समन्वयवादी दृष्टिकोण मूलत: मानवतावादी ही है । राघव जी के अनुसार भारतीय संस्कृति ने तीन बातें अपने में समा ली हैं । जो मानवतावाद के लिए आवश्यक तत्व हैं । एक है मौत से डरना व्यर्थ है । हर चीज को मरना है । लेकिन मौत का कभी अन्त नहीं है । एक आदमी मरता है पर अपना बेटा वह संसार में छोड़ जाता है । क्योंकि कड़ी कभी टूटती नहीं, इसलिए मौत केवल रूप का बदल जाना है । दूसरी बात यह है कि संसार में समय के साथ मनुष्य का धर्म भी बदलता है । इसलिए पुराने लोगों ने अपने धर्म को "सनातन" यानी हमेशा ही बना रहने वाला

---

1. रांगेय राघव - समीक्षा और आदर्श पृष्ठ-35

कहा है । तीसरी चीज यह मानी गई है कि इस दुनिया में अनेक तरह के प्राणी रहते हैं इसलिए सब के प्रति समान भाव रखना, सबको ही यहां जीने का अधिकार है और कोई भी सिद्धान्त या सच्चाई ऐसी नहीं है जो कि एक आदमी या दल को दूसरे आदमी या दल के विश्वास का नाश कर देने की बात का अधिकार दे सके ।"[1]

डा० राघव के उपर्युक्त विस्तृत उद्धरण को उद्धृत करने के पीछे मात्र यह उद्देश्य रहा है कि यह स्पष्ट हो सके कि वे मानव-मानव में आपसी प्रेम-भाव के साथ-साथ समान अधिकार के हिमायती थे । भेद-भाव अथवा जाति दर्प की भावना उनमें कहीं नहीं थी । किन्तु यह भी समय की विडम्बना ही कही जाएगी कि विद्वान आलोचकों ने उन पर द्राविड़ दर्प भावना से ग्रास्ति होने का आरोप भी लगाया था । जिसका जवाब उन्होंने स्वयं अपने जीवन काल में "काव्य यथार्थ और प्रगति" नामक पुस्तक में दे दिया था और बहुत स्पष्ट रूप से देते हुए अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया था ।

यह भी एक विचारणीय विषय है कि विविध प्रकार के यथार्थ ज्ञान के बावजूद डा० राघव किसी एक विशेष यथार्थवाद में बद्ध नहीं हुए । प्रगतिशील आलोचना एवं आलोचना की यह एक प्रमुख विशेषता है कि वह किसी वाद विशेष में बन्द नहीं होता । मार्क्सवाद से प्रभावित होकर भी डा० राघव उसकी सीमा रेखाओं में नहीं बंधे । उनकी प्रगति चेतना स्वयं चिन्तन के बल पर विकास पा सकी थी । उनका चिन्तन वर्गवाद की प्राचीरों को लांघ कर समग्र मानवीयता के असीम प्रदेश में आ गया था और मानव के मंगल की आकांक्षा में ही

---

1. डा० रांगेय राघव - महाकाव्य विवेचन पृष्ठ-49

निरत रहने लगा था । इस सब के बावजूद कला का आवरण उसमें वार वाद लगा देता था । वैसे भी जब साहित्य में सामाजिक प्रतिबद्धता की बात की जाती है तो यथार्थ उसके साथ अपने आप ही जुड़ जाता है । दोनों को अलग करना संगत भी नहीं । डा० राघव ने यथार्थ को परिभाषित करते हुए उसमें सामाजिकता को जोड़ते हुए लिखा है कि --"यथार्थ है जीवन का वह वास्तविक चित्रण जो समाज का पूरा चित्र उतार देता है । समाज में उसका रूप है --उन शक्तियों को बल पहुंचाना जो समाज की विकृतियों को दूर करने में लगी हैं ।"[1]

सामाजिक यथार्थ को वरीयता देने वालों पर एक आक्षेप लगाया जाता है कि उनका साहित्य दलगत राजनीति से जुड़कर इतना सामायिक हो जाता है कि उसका स्थायी मूल्य नहीं रह जाता । डा० राघव भी अत्यधिक जुड़ाव का विरोध करते है किन्तु साथ ही वे यह मानकर भी चलते हैं कि --"मनुष्य का राजनीति से सदैव सम्बन्ध रहा है, और रहेगा लेकिन राजनीति और साहित्य अन्योन्याश्रित होते हुए भी दोनों में अभिप्रयोजना, परिस्थिति तथा क्षेत्र की दृष्टि से भेद है ।"[2] आगे वे लिखते हैं "साध्या रचनाकार दलीय प्रतिबन्धों में न फंसकर केवल मानव-हित के लिए लिखता है और विचार सम्मत भावाभिव्यक्ति के बल पर युग में रहकर भी युग की सीमाओं को तोड़ जाता है ।"[3]

वे "दैनदिन जीवन का रोजनामचा" बनाए जाने अथवा "साहित्य को पैम्फलेटों की भांति परिवर्तित स्थिति में व्यर्थ" हो जाने के पक्षधर नहीं थे, बल्कि वे मैक्सिम गोर्की के शब्दों में यह कामना रखते थे कि --

---

1. साहित्य संदेश, जनवरी 1963 पृष्ठ-263
2. आलोचना, नवम्बर, 1955 पृष्ठ-48
3. ,, ,, पृष्ठ-50

"साहित्य स्थायी हो, पर युग की माँग भी पूरी हो, परन्तु केवल पत्रकारिता ही साहित्य न बन जाए ।"[1]

साहित्य समाज-सापेक्ष है, इस स्वीकृति के बावजूद भी डा० रांगेय राघव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि---

"साहित्य समाज की अनुकृति मात्र नहीं है ।"[2] वह सापेक्ष है । जब वह समाज के यथार्थ को शब्द-बद्ध करता है तो "उनका उद्देश्य मानव कल्याण होता है ।"[3] अपने मानवता वादी यथार्थ के कारण ही डा० राघव लिखते हैं कि --"साहित्य का नायक मनुष्य है । हां, मनुष्य की व्याख्या ऐसी नहीं है कि वह समाज से परे हो । मनुष्य तो वह तभी है जब समाज का प्राणी है । समाज अपने सांगोपांग रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित है और दोनों का अभिन्न संबंध है ।"[4]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि डा० राघव यथार्थ-बोध को मानव कल्याण हेतु प्रयुक्त करने के समर्थक थे । वह यथार्थ चाहे सामाजिक हो, ऐतिहासिक हो अथवा व्यक्ति वादी । वे सभी प्रकार के यथार्थ बोध को एक मात्र मानवतावादी यथार्थ में समाहितकर मानव के अधिक से अधिक हित की इच्छा रखने वाले प्रगतिशील आलोचक थे ।

---

1. डा० रांगेय राघव - पांच गधे "भूमिका" पृष्ठ 5 से उद्धृत
2. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-115
3. डा० राघव - प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृष्ठ 306=7
4. आलोचना नवम्बर, 1955 पृष्ठ-53

पंचम अध्याय

उपसंहार

डा० रांगेय राघव प्रगतिशील आलोचना के शीर्षस्थ पुरस्कर्ता के रूप में हमारे समक्ष आते हैं । यह वह समय था जब प्रगतिशील आलोचना अपने विकास का मार्ग खोज रही थी । रांगेय राघव की सैद्धान्तिक और व्यवहारिक आलोचना ने न केवल आलोचना के प्रगतिशील मान-दण्डों को व्याख्यायित किया वरन् उन्हें हिन्दी में प्रतिष्ठित भी किया । आज प्रगतिशील आलोचना हिन्दी की शीर्ष आलोचना पद्धति के रूप में जिस प्रकार मान्य है, उसे यह मान्यता दिलाने में औरों के साथ-साथ डा० रांगेय राघव का अपना योगदान अविस्मरणीय है । इस क्रम में उन्हें अपने समान धर्माओं से एक लम्बी "बहस" में भी उलझना पड़ा और अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल विवादों में करना पड़ा ।

डा० राघव ने लिखना तो सन् 36-38 से ही कर दिया था लेकिन अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय उन्होंने सबसे पहले सन् 1941-42 में "प्रगतिशील लेखक संघ" की बैठकों में दिया था । "घरौंदे" उनका पहला लोकप्रिय उपन्यास था जो उन दिनों इन बैठकों में चर्चा का विषय रहा । डा० कमलेश लिखते हैं --"प्रगतिशील लेखक संघ ने उनकी जन्मजात मेधा पर धार रख दी थी, लेकिन वे संघ की केवल खानापूरी से संतुष्ट न थे । वे जीवन और जगत को स्वयं भी देखने के आदी थे । यही कारण है कि उन्होंने सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर भी जनसाधारण का लेखक बनने का व्रत लिया था । वे चाहते तो बहुत से प्रोफेशनल लेखकों की तरह बौद्धिक प्रगतिशीलता को पकड़ कर बैठ जाते । पर जो साहित्य-स्रष्टा अपने साहित्य के अनुकूल जीवन नहीं

जीता उसके साहित्य में शक्ति नहीं आती ।[1]

डा० राघव विचारों से प्रगतिशील थे और उनमें यह प्रगतिशीलता मार्क्सवादी विचारों से आई थी । सन् 42 में वे कम्यूनिस्ट पार्टी के सम्पर्क में रहे और फिर धीरे-धीरे उनकी चिन्तन प्रक्रिया का विकास हुआ । लेखक की वाद ग्रस्तता से उन्हें घृणा थी इसीलिए उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ की सदस्यता से यह कहकर इन्कार कर दिया कि उसमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य नहीं है ।

डा० राघव का चिन्तन पक्ष मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित था किन्तु उनकी मान्यता है कि मार्क्स का सिद्धान्त देशकाल के अनुसार परिवर्तनीय है । सत्यात्मकता को वे किसी भी चिन्तन का "मूल" मानते हैं । उनका मानना है कि --"मानवीयता का तत्व ही ऐसा है जो हमारे भावों को जगाता है और हमें भव्य आनन्द रस प्रदान करता है ।"[2] उनका मानना है कि "पहले हम नए चिन्तन को भारतीय चिंतन के समक्ष रखें और तब अपने निष्कर्ष पर पहुंचें ।"[3] रांगेय राघव ने स्पष्ट लिखा है --

"मार्क्सवाद एक दर्शन है और उसको व्यवहार में लाने वाली पार्टी सान का औजार है । उसमें बुराइयाँ हो सकती हैं । वे बदली भी जा सकती हैं ।"[4]

डा० राघव का विचार है कि समय के साथ-साथ सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होता रहता है । बंधी-बधाई लीक पर चलते चलना बुद्धिमानी नहीं । अपितु परिस्थितियों के अनुरूप निरन्तर परिवर्तन को

---

1. आलोचना जुलाई, 1965 पृष्ठ 158.
2. डा० रांगेय राघव - आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार पृ० 13
3. ,, ,, ,, ,, ,, पृ० 12
4. आलोचना नवम्बर 1955 (व्यक्ति स्वातन्त्र्य और जनहित) पृ० 51

स्वीकार करना ही बुद्धिमानी है । डा० राघव इसीलिए मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए भी मार्क्सवादी नहीं थे । उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि --"मैं मार्क्सवाद की अनेक आस्थाओं को मानता हूं, स्वयं अपनी कविताएं राजनीति से रंग चुका हूं, प्रचार के उस रूप को भी काव्य के अन्तर्गत मानता हूं, जिसका सोता मन से फूटकर निकलता है, परन्तु मैंने मार्क्सवाद को कभी शाश्वत सत्य नहीं माना ।"[1]

वस्तुत: डा० राघव का विचार था कि --"मार्क्सवादी आलोचक केवल वर्ग-संघर्ष तक सीमित रह जाता है । वह दर्शन की अनुभूतियों को भी देखता है तो वर्ग जीवन की ही बात को देखता है । किन्तु आलोचना इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती । हमें तो उस समग्र मानव को देखना है जो वेद में मिलता है ।"[2]

डा० राघव प्रगतिवादी आलोचना और आलोचकों के उस रूढ़िवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध थे जो कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को हिन्दी साहित्य और भारतीय समाज पर हू-ब-हू लागू करने लगे थे । उनका कहना था कि --"मार्क्सवाद चिन्तन ने नया दृष्टिकोण हमारे सामने उपस्थित किया किन्तु किसी भी मतवाद को हमें सापेक्ष बुद्धि से देखना चाहिए । इस मार्क्सवाद के नाम पर बहुत कुछ साहित्य भारत में परित्यक्त किया जा रहा है और दुहाई यह दी जा रही है कि जो साहित्य इसके दावेदारों द्वारा स्वीकृत नहीं है, वह वास्तव में पलायनवादी साहित्य है, अत: जनवादी नहीं है । इसलिए आवश्यक यह है कि पहले हम नये चिन्तन को भारतीय चिन्तन

---

1. डा० रांगेय राघव महाकाव्य विवेचन पृष्ठ-130
2. डा० रांगेय राघव - महाकाव्य विवेचन पृष्ठ-34

के समक्ष रखकर देखें और तब अपने निष्कर्षों पर पहुंचें, क्योंकि किसी को आंख कान मूंदकर स्वीकार नहीं करना चाहिए ।"[1]

डा० राघव ने अपने इतिहास-बोध और वैज्ञानिक चिन्तन से भारतीय साहित्य और सामाजिक विकास की नवीन कड़ियों का उद्घाटन करते हुए यूरोपीय समाज से उसकी स्पष्ट भिन्नता और उच्चता को स्पष्ट किया । आर्य-अनार्य के भेद को एवं मानव विकास की कड़ियों को जोड़कर जो भारतीय इतिहास-दर्शन के नवीन तथ्य उन्होंने प्रकट किए हैं उनके आधार पर मार्क्स का दर्शन भारतीय समाज पर लागू नहीं हो सकता । जैसा कि डा० राघव ने लिखा है कि भारत में "वर्ग संघर्ष नहीं बल्कि वर्ण संघर्ष है ।" और "मार्क्सवादी आलोचक केवल वर्ग संघर्ष तक सीमित रह जाता है । वह दर्शन की अनुभूति को भी देखता है तो वर्ग जीवन की बात को देखता है । किन्तु आलोचना इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती । हमें तो उस समग्र मानव को देखना है जो वेद में मिलता है । वह मानव मूलत: "सदिच्छा" से प्रेरित है ।"[2]

डा० राघव मानवीय मूल्यों के पक्षधर थे इसीलिए वे देशी-विदेशी ऐसे समस्त साहित्य के प्रशंसक थे जिसमें "सार्वभौमिक" मानवीयता" होती है । उन्हीं के शब्दानुसार ---

"प्रत्येक देश की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियां होती हैं । प्रत्येक देश के साहित्य में विभिन्न विशेषताएं होती हैं, उनमें भेद के रहते

---

1. डा० रांगेय राघव, आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार पृष्ठ-5.

2. डा० रांगेय राघव - महाकाव्य विवेचन पृष्ठ-34.

हुए भी एक सार्वभौमिक मानवीयता उनके भीतर रहती है, जो शताब्दियों को भेद जाती है । तभी यूनान का होमर हजारों वर्षों के उपरान्त भी आज आनन्द देता है । उसमें जो "वह" है जो "आनन्द" देती है वह उसकी मानवीयता है, जो हमारे भावों को रमाती है, जगाती है, और यह भव्य आनन्द ही रस है ।[1]

उनका मानना है कि "मार्क्सवादी चिन्तन ने नया दृष्टिकोण हमारे सामने रखा" किन्तु किसी भी चिन्तन के अन्धानुकरण के वे विरोधी थे । वे मानते थे कि मार्क्सवाद ने वैज्ञानिक दृष्टि दी है किंतु अपनी परम्परा, संस्कृति और परिस्थितियों को अनदेखा कर मात्र मार्क्सवादी सिद्धान्तों का राग अलापना उचित नहीं । हिन्दी साहित्य को जानने वालों के समक्ष संस्कृत -आलोचना- साहित्य की लम्बी परम्परा है । अपनी इस विरासत की वैज्ञानिक व्याख्या और मूल्यांकन की इच्छा वह रखता है । उनका मानना है कि --"भरत से पण्डित राज जगन्नाथ तक के विभिन्न मतों को मार्क्सवाद के तमाम तथ्य कहीं नहीं काट पाते ।"[2]

डा० राघव न केवल मार्क्सवाद अपितु किसी भी अन्य वाद से मात्र उतना ही प्रभाव ग्रहण करना उचित समझते थे जितना लेना आवश्यक था । यह नहीं कि वे मार्क्सवाद के कट्टर विरोधी थे, वस्तुत: उन्होंने जैसा कि स्वयं स्वीकार भी किया है कि --"मैं कभी मार्क्सवादी ही कहला सकूं, ऐसा नहीं रहा । यदि "सीधा सादा रास्ता" को कोई

---

1. डा० रांगेय राघव - आधुनिक काव्य में प्रेम और शृंगार पृष्ठ-13.
2. डा० रांगेय राघव - आधुनिक काव्य में प्रेम और शृंगार पृष्ठ-6.

गौर से पढ़े तो देख सकता है कि उसमें गांधीवाद का विश्लेषण कम्यूनिस्टों वाला नहीं लिखा गया । मार्क्स से मुझे जो लेना था, वही मैंने सदैव लिया - जैसे अन्यों से बहुत कुछ लेने योग्य लिया है ।"[1] मार्क्सवाद को वे भारतीय मानवता का युग सापेक्ष रूप मानते थे । किन्तु डा० राघव कभी भी यान्त्रिक चिन्तन के पक्षधर नहीं रहे, वे मार्क्सवादियों के सदैव हमदर्द रहे किन्तु उतनी ही श्रद्धा उनकी इस वाद के प्रति थी जितनी अन्य उन सभी वादों के प्रति थी जो मनुष्य के सामूहिक कल्याण को प्रश्रय देते थे, क्योंकि वे मनुष्य की मूल उदात्त भावना को सदैव ऊंचा स्थान देते थे । अपने प्रगतिशील विचारों के कारण डा० राघव ने भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन के समन्वयवादी स्वर की पहचान की और अपने मानवता वादी विचारों को प्रकट किया । उन्होंने कहा कि "आर्थिक विषमता के लिए किसी एक व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जब तक परिस्थितियों को बदला नहीं जाएगा आर्थिक विषमता समाप्त नहीं होगी, इसके लिए लोगों को उद्‌बुद्ध करना होगा । उनका स्वयं का चिन्तन था वे मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को ठीक उस रूप में नहीं स्वीकार करते बल्कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की व्याख्या की ओर जो इनके तर्क की कसौटी पर खरे उतरे, उन्हें उन्होंने स्वीकार भी किया । उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि --"मैं मार्क्सवाद की अनेक आस्थाओं को मानता हूं स्वयं अपनी कविताएं राजनीति के रंग में रंग चुका हूं, प्रचार के उस रूप को भी काव्य के अन्तर्गत मानता हूं, जिसका सोता मन से फूटकर निकलता है, परन्तु मैंने मार्क्सवाद को कभी शाश्वत सत्य नहीं माना, न यही माना कि राजनीति और प्रचार के दायरों में कविता का अन्त है ।"[2]

---

1. डा० रांगेय राघव - साहित्य-संदेश आधुनिक उपन्यास अंक, जुलाई-अगस्त अंक 1956, पृष्ठ-87.
2. डा० रांगेय राघव - काव्य कला और शास्त्र पृष्ठ-39

प्रगतिशील आलोचना को डा० राघव का यह प्रमुख योगदान रहा है कि उन्होंने कविता को मार्क्स के सिद्धान्तों के ढाँचे में ढाले जाने का विरोध कर उसे जड़ होने से बचाया । जब डा० राघव ने आलोचना जगत में पदार्पण किया वह प्रगतिवादी काव्य आन्दोलन का दौर था जहां काव्य में निरसता, यथातथ्य वर्णन, मज़दूर-किसान अथवा रूस चीन की वाह्वाही गा कर पार्टी प्रचार के लिए काव्य और साहित्य का प्रयोग किया जाने लगा था । अन्य प्रगतिशील आलोचकों के स्वर में स्वर मिलाते हुए डा० राघव ने काव्य जगत से इस प्रवृत्ति को दूर करने में विशेष योग दिया । इसी कड़ी में उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन की नूतन नवीन और व्यवहारिक व्याख्या कर भारतीय सन्दर्भ में उसकी कहाँ और कितनी उपयोगिता है इसका उद्घाटन किया । आलोचना जगत में आधुनिकता के नाम पर फ्रायडवाद, अतियथार्थ वाद अभिव्यंजनावाद व्यक्ति-वैचित्र्यवाद" आदि का विरोध करते हुए मानव के सामूहिक कल्याण और विकास की भावना को प्रोत्साहन दिया । उनका विचार था कि --"प्रत्येक युग में जो भी विचारधारा रही है, उसने मनुष्य को, उसकी संस्कृति को समर्थ बनाया है और उसके चिंतन को उकसाया है ।"[1]

डा० राघव को मानव के इतिहास, उसके जीवन, उसकी पीड़ा और मनुष्य की वह चेतना जो उसे निरन्तर अन्धकार से लड़ने की प्रेरणा देती है सबसे अधिक प्रिय रही है । इसी लिए वे "प्रगति" क्या है ? का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि --"प्रगति क्या है ? प्रगति केवल राजनीति नहीं है । वह समग्र मानव का नया जीवन दर्शन है, जो वर्ग-

---

1. डा० रांगेय राघव - आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार पृष्ठ-11

वाद को मिटाकर, मनुष्य का ऐसा सुखी समाज बना सके, जहां विज्ञान की सहायता से सृष्टि के रहस्यों को समझ सके ।"[1]

प्रगतिशील आलोचना अपनी जनवादी विचारधारा के लिए समीक्षा जगत् में विशेष स्थान रखती है और डा० राघव अपने विचार-दर्शन में मानव मात्र की प्रगति और विकास की बात करते हैं । किन्तु साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि --

"एक ही बात हरेक युग में प्रगतिशील नहीं रहती ।"[2] वस्तुत: प्रगतिशीलता परिस्थिति और काल विशेष पर भी निर्भर करती है । भक्ति काल में तुलसी दास के रामचरित मानस में वर्णित समाज व्यवस्था वर्तमान युग में उतनी मान्य नहीं क्योंकि आज समाज और मानव के विकास में वैज्ञानिक आविष्कारों एवं नवीन खोजों के कारण बहुत बड़ा परिवर्तन आ चुका है । किन्तु जैसा कि प्रकाशचन्द गुप्त जी ने लिखा है कि ---

"प्रगतिशील लेखक अपनी पुरानी विरासत को सम्मान सहित अपना कर आगे बढता है ।"[3] उचित ही है । वैसा ही डा० राघव ने भी स्वीकार किया है कि --

"प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की परम्परा में ही जन्मा है ।"[4]

---

1. डा० रांगेय राघव प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृष्ठ-328
2. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-32.
3. प्रकाश चन्द गुप्त - हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा पृष्ठ-148.
4. डा० रांगेय राघव - प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृष्ठ-17.

प्रगतिशील आलोचना को डा० राघव का अन्य प्रमुख योग साहित्य की नवीन अवधारणाएं हैं जो उन्होंने अपनी व्यवहारिक आलोचना एवं सैद्धान्तिक आलोचना में यत्र तत्र प्रकट की है । साहित्य और समाज का सम्बन्ध, साहित्य की नूतन अवधारणा, साहित्य के नवीन मानदण्ड, साहित्य के हेतु, प्रयोजन उद्देश्य, आदि पर मौलिक रूप से विचार करते हुए डा० राघव ने संस्कृत काव्य सिद्धान्तों की रूढ़ि से मुक्त कर नव-युग की चेतना और परिस्थिति के अनुरूप उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है । साहित्य के शैली पक्ष पर भी उन्होंने प्रगतिशील दृष्टि से विचार करते हुए रूप और वस्तु को अन्योन्याश्रित बताते हुए भी "वस्तु" पर विशेष बल दिया है । "भरत मुनि" के "रस" सिद्धान्त की बाद के मनिषियों ने इतने सूक्ष्म तर सूक्ष्म व्याख्या की कि "रससूत्र" पर टीका दर टीका लिखी गई । भाव-अनुभाव, का इतना सूक्ष्म विवेचन किया गया कि मूल कथ्य ही दब गया । अतएव डा० राघव ने आनन्द के साथ-साथ मानव कल्याण और उसके विकास को बढ़ावा देने वाला साहित्य ही श्रेष्ठ माना । उन्हीं के शब्दों में --"साहित्य रचना का उद्देश्य है, मानव के यथार्थ सत्य में छिपे हुए आत्मा के सौन्दर्य को खोज कर भाव के माध्यम से, विचार से समन्वय करके प्रस्तुत करना । इस उद्देश्य को साहित्य तभी प्राप्त कर सकेगा । जब वह युग के प्रति ईमानदार हो और बहुजन हिताय ही अपना समर्पण करे । साहित्य रचना गम्भीर दायित्व तो है ही, वह मानव अनुभूति का निरन्तर होता रहने वाला परिष्कार भी है ।"[1]

डा० राघव जहां निरन्तरता के द्वारा होने वाले परिष्कार के हिमायती हैं वहीं वे भरत मुनि "रस सिद्धान्त" की निरन्तर होने

---

1. डा० रांगेय राघव - समीक्षा और आदर्श पृष्ठ-35.

वाली व्याख्या को मात्र बुद्धि विलास की चीज भी मानते थे । वे लोक मंगल जो कि प्रगतिशील आलोचना का मूल स्वर है पर विशेष बल देते थे । उन्होंने रस सिद्धान्त के सूक्ष्म विश्लेषण पर टिप्पणी करते हुए लिखा भी है --"लोक मंगल को "रस" के चरणों पर बलिदान कर दिया और रस के लिए "भाव" "विभाव" अनुभाव आदि पर के बाद अस्थायी और "संचारी भावों" के विश्लेषण पर सब कुछ निहित कर दिया ।"[1]

इसी तरह यदि उन्होंने मार्क्सीय चिन्तन की पुन: व्याख्या करते हुए उसमें परिवर्तन करने की बात कही थी तो दूसरी ओर वर्ग संघर्ष से ऊपर उठने तथा रसवादियों के इस आरोप का भी विरोध किया कि "मार्क्सीय चिन्तन" से प्रभावित साहित्य से साधारणीकरण नहीं होता । उन्होंने कला को वर्गवाद से कहीं ऊपर की चीज बताया । वे लिखते हैं ---

"साहित्य सौन्दर्य का सृष्टा है । सौन्दर्य सापेक्ष होता है तभी वह सामाजिक आधार लेता है । साधारणीकरण के आधार सामाजिक और आर्थिक हैं, जो वर्गवाद का विरोध करते हैं और इसलिए रस-सिद्धान्त भी जहाँ तक मनुष्य के भाव चित्रण का प्रश्न है, वर्गवाद का विरोध करता है ।"[2]

इस प्रकार प्रगतिशील आलोचना को डा० राघव मार्क्सवाद की रूढिबद्धता से दूर रखते हुए भी देश काल के अनुसार उसमें परिवर्तन

---

1. डा० रांगेय राघव - काव्य यथार्थ और प्रगति पृष्ठ-27.
2. डा० रांगेय राघव - आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार भूमिका पृष्ठ-8.

के पक्षधर थे। वे वर्गवाद का सिद्धान्त: महत्व स्वीकारते हुए भी कला को वर्गवाद से ऊपर रखकर देखने की नई प्रगतिशील दृष्टि प्रदान करते हैं। अपने उपर्युक्त कथन से जहां एक ओर उन्होंने कला की प्रतिष्ठा की है तो दूसरी ओर रस सिद्धान्त से टूटे हुए मार्क्सीय साहित्य को साधारणीकरण से जोड़ने की चेष्टा की है। अपनी इसी "मध्य" भावना के कारण ही तो आज प्रगतिशील आलोचना हिन्दी साहित्य जगत में विशिष्ट मानी जाती है कि वह साहित्य के "रूप पक्ष" को भी उतना ही महत्व देती है जितना उसके "वस्तु" पक्ष को। और एक पूर्ण आलोचना के अभाव की पूर्ति आज प्रगतिशील आलोचना कर रही है। डा० राघव एवं अन्य प्रगतिशील समीक्षकों की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। सिद्धांत रूप में इसे नकारा नहीं जा सकता।

प्रगतिशील आलोचना कला को सोद्देश्य, पूर्ण स्वीकार करती है। डा० राघव भी "साहित्य का उद्देश्य मानव के यथार्थ सत्य में छिपे आत्मा के सौन्दर्य को खोज कर भाव के माध्यम से, विचार से समन्वय करके प्रस्तुत करना है।"[1] स्वीकारते हैं। इस कथन से जहां कला की सोद्देश्यता व्यंजित होती है वहीं कला में भाव और विचार की व्यापति का बांध भी होता है। प्रगतिशील आलोचना की यह विशेषता है कि वह साहित्य और समाज के परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध को महत्व देती है। डा० राघव अपनी पुस्तक आधुनिक हिन्दी कविता में "प्रेम और श्रृंगार" की भूमिका में लिखते हैं --"काव्य का भाव से सम्बन्ध है। भाव हृदय पक्ष को लेकर चलता है। हृदय-पक्ष अपने आप में पूर्ण नहीं होता क्योंकि वह विचार से सम्बद्ध होता है।"[2]

---

1. आलोचना नवम्बर, 1955 पृष्ठ-52.
2. डा० रांगेय राघव - आधुनिक कविता में प्रेम और श्रृंगार पृष्ठ-13.

कला में विचार की प्रमुखता अवश्य वे स्वीकार करते हैं लेकिन उनकी यह आकांक्षा कभी नहीं रही कि कला में उनका विचार प्रचार बन कर मुखरित हो ।

मूलत: कला में उन्हें साधारणीकरण का सिद्धान्त स्वीकार है ।इसीलिए वे लिखते भी हैं --"साधारणीकरण काव्य-साहित्य का मानवीय मूल्यांकन है ।"[1]

"कला" के लिए डा० राघव किसी प्रकार का दबाव भी स्वीकार नहीं करते, चाहे वह दबाव साहित्य-शास्त्र का हो अथवा अन्य किसी बाह्य शक्ति का । उनके विचार से "कला और काव्य" किसी के हुक्म पर नहीं चलते ।"[2]

प्रगतिशील आलोचना को विचार स्वातंत्र्य और व्यक्ति स्वातंत्र्य का विचार उनकी प्रमुख देन है । पार्टी के दबाव में मात्र पार्टी सत्य का चित्रण करना उन्हें कभी रुचिकर नहीं रहा था । किन्तु वे ऐसे व्यक्ति स्वातंत्र्य के हामी भी नहीं थे जो स्वतंत्रता के नाम पर ऐसी वैयक्तिकता चाहते हों जो समाज पक्ष पर ध्यान देना निकृष्ट और हेय समझते हों । उन्हीं के शब्दों में --"मैं व्यक्ति की किसी भी उस स्वतंत्रता को नहीं मानता जो शोषण को प्रश्रय देती है, यथार्थ से पलायन का पाठ सिखाती है और जो वास्तव में अन्य की स्वाधीनता को आडम्बर जाल में बांधकर हर लेने की चेष्टा करती है ।"[4]

---

1. डा० राघव - आधुनिक कविता में प्रेम और शृंगार पृष्ठ-8.
2. आलोचना नवम्बर 1955 पृष्ठ 52.
3. ,, ,, ,, पृष्ठ 46.
4. ,, ,, ,, पृष्ठ 47.

वस्तुत: डा० राघव सामाजिक हित के लिए ही स्वतंत्र चिन्तन का आग्रह करते थे । व्यक्तिगत हित के लिए नहीं । वे तो साहित्य का केन्द्र और उसकी व्याप्ति "व्यक्ति और समाज के पूर्ण समन्वय" में मानते थे । प्रकाश चन्द्र गुप्त ने इसी लिए लिखा भी है कि -- "आपकी रचनाओं में बल, वेग और सामाजिक चेतना है,....।"[1]

प्रगतिशील आलोचना अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से समाज का उसके विकास का अध्ययन प्रस्तुत करती है । और इस वैज्ञानिक दृष्टि को देने वाले हैं डा० रांगेय राघव । वे लिखते हैं कि "साहित्यकार केवल अपने आसपास के समाज के चित्रण को ही इत्यलम् नहीं मान सकता बल्कि उसे "वैज्ञानिक समाज-शास्त्र का आधार लेकर अपनी पुरानी संस्कृति की सहायता से व्यक्ति और समाज के तादात्म्य का मार्ग बनाना चाहिए ।"[2]

प्रगतिशील आलोचना जहां आधुनिक परिवर्तनों को स्वीकार करती है वहीं वह अपनी परम्परा के विकास को भी महत्वपूर्ण मानती है । डा० राघव के उपर्युक्त कथन से उनके परम्परा बोध एवं परम्परा से छिटक कर साहित्य-सृष्टि नहीं हो सकती - का स्पष्ट संकेत मिलता है ।

उच्चकोटि का साहित्य परम्परा की मात्र अनुकृति से नहीं रचा जा सकता और न ही साहित्य मात्र समाज की अनुकृति होता है । बल्कि वह सापेक्ष होता है । डा० राघव लिखते हैं कि "आओ लेखको । मनुष्य की आत्मा के शिल्पियो । अतीत के सारे लेखक हमारी ओर हैं और कह रहे हैं कि जितना हम मनुष्य के लिए अपने युग के बन्धनों में रह कर कर सके थे, वह सब प्रगति हम तुम्हें देते हैं, उसे लो और मनुष्य के अन्तर्बहिर को सुन्दरतम बनाने के लिए, अपने व्यक्तिगत संकुचित

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त - आधुनिक हिन्दी साहित्य - एक दृष्टि पृष्ठ-180
2. आलोचना नवम्बर 1955 पृष्ठ-46.

स्वार्थ को छोड़कर एक हो जाओ । उससे युद्ध करो जो मनुष्य का शत्रु है । उन कारणों को मिटाओ जिन्होंने आजतक के मानवतावादी मेधावियों और बलिदानी वीरों के तपस्पूत स्वप्नों को व्यर्थ कर दिया है, जिन्होंने बार-बार रूप बदल कर संसार को दु:ख से भर दिया है ।"[1]

सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि डा० रांगेय राघव ने अपनी मौलिक चिन्तन दृष्टि का परिचय देते हुए प्रगतिशील आलोचना को तथाकथित मार्क्सीय चिन्तन की रूढ़िबद्धता से तो बचाया किन्तु साथ ही मार्क्सीय चिन्तन का जो पक्ष ग्राह्य था उसके आलोक से चमकाया भी । उसकी सीमा रेखाओं से प्रगतिशील आलोचना को निकाल कर इतना विस्तृत विचारीय क्षेत्र प्रदान किया कि आज आलोचना की विविध पद्धतियों में जहां एकांगिता देखने को मिलती है वहीं प्रगतिशील आलोचना पूर्णता का दावा बड़े गर्व के साथ कर सकती है । डा० राघव की प्रगति चेतना कुछ चिन्तन के बल पर यह कार्य कर सकी तो कुछ कलात्मक आवरण के कारण । चिन्तन उन्हें गत्यात्मकता की ओर खींचता रहा तथा कला साधारणीकरण की ओर । इसी तरह उनका चिन्तनवाद विशेष की दीवारों में कैद न होकर समग्र मानवीयता के असीम क्षेत्र को अपनाने के लिए जहां से जो लेने योग्य था सब लेकर प्रगतिशील आलोचना को उसे दिया और निरन्तर सुधार, परिष्कार करते हुए परिवर्तन को सदैव स्वीकार कर लेने की बात कही । उन्हीं के शब्दों में --

"प्रगतिशील साहित्य संसार की किसी भी वस्तु की भांति निरन्तर बदलता रहता है । इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु

---

1. डा० रांगेय राघव - प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, समर्पण.

निरन्तर बदलती रहती है ।....ईश्वर या ब्रह्म या शाश्वत की अवस्था में साहित्य साहित्य नहीं बनता, साहित्य जीवन का चित्रण है ।"[1]

अतएव जो है वह अन्तिम सत्य नहीं । परिवर्तन और नवीनता का होना आवश्यक है । डा० राघव अपने जीवन प्रगतिशील आलोचना को अपना जितना योगदान दे सकते थे वह उन्होंने दिया । शेष आगामी पीढ़ी का कर्तव्य है । अपने अल्प जीवन काल में उन्होंने प्रगतिशील आलोचना को प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । डा० कमलेश के शब्दों में कहें तो --

".... प्रगतिशील लेखक संघ ने उनकी जन्मजात मेधा पर धार रख दी थी, लेकिन वे संघ की केवल खाना-पूरी से संतुष्ठ नहीं ।"[2]

वस्तुत: डा० राघव जीवन और जगत् को स्वयं भी देखने के आदी थे । वे चाहते तो बहुत से फैशनेबुल लेखकों की तरह बौद्धिक प्रगतिशीलता को पकड़कर बैठ जाते । किन्तु नहीं, उन्होंने तो अपने अध्ययन, मनन और अन्वेशण के द्वारा नये-नये तथ्य और विचार प्रगतिशील आलोचना को दिए । जो न केवल सैद्धान्तिक रूप में श्रेष्ठ हैं बल्कि व्यवहारिक दृष्टि से भी उपयोगी हैं । अपनी श्रेष्ठता और उपयोगिता के कारण ही डा० राघव के विचार प्रगतिशील आलोचना में अपना स्थायी स्थान सदैव बनाए रहेंगे । स्थायी होने के लिए जैसा कि डा० राघव स्वयं कहते है कि ----

"किसी भी युग के साहित्य में जो विचारशील तत्व हैं, मानवीय चेष्टाओं और मानवीय भविष्य के प्रति जो आस्था का स्वर है वहीं उसके स्थायित्व का विधायक तत्व हैं ।"[3]

डा० राघव के विचार में उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हैं ।

---

1. डा० रांगेय राघव - प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड पृष्ठ-19.
2. आलोचना जुलाई, 1965 पृष्ठ 158.
3. आलोचना "साहित्य का स्थायी मूल्य लेख से" ।

परिशिष्ट

आधार ग्रंथ सूची

1. डॉ. रांगेय राघव : आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार, हिन्दी सन्मार्ग, 1961.

2. डॉ. रांगेय राघव : आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली, हिन्दी सन्मार्ग, 1962.

3. डॉ. रांगेय राघव : काव्य यथार्थ और प्रगति, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1955.

4. डॉ. रांगेय राघव : काव्य कला और शास्त्र दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1955.

5. डॉ. रांगेय राघव : तुलसीदास का कथा शिल्प, दिल्ली शब्दकार, 1959.

6. डॉ. रांगेय राघव : महाकाव्य विवेचन बीकानेर सूर्य प्रकाशन मन्दिर, 1980.

7. डॉ. रांगेय राघव : प्रगतिशील साहित्य के मानदंड दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1954.

8. डॉ. रांगेय राघव : समीक्षा और आदर्श दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1955.

9. सं. सुलोचना राघव : रांगेय राघव ग्रन्थावली, भाग-10 दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1982.

सहायक ग्रंथ सूची

1. गुप्ता निर्मल : रांगेय राघव की नाट्य कला

2. गुप्त प्रकाश चन्द : हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा.

3. गुप्त प्रकाश चन्द : आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि.

4. गौतम लक्ष्मण दत्त : आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना.

5. चौहान शिवदान सिंह, : प्रगतिवाद

6. जैन निर्मला : रांगेय राघव की नाट्य कला.

7. दास श्याम सुन्दर : साहित्यालोचन, छठा संस्करण

8. द्विवेदी महावीर प्रसाद : रसज्ञ रंजन.

9. द्विवेदी हजारी प्रसाद : अशोक के फूल .

10. द्विवेदी हजारी प्रसाद : विचार और वितर्क .

11. द्विवेदी हजारी प्रसाद : साहित्य सहचर.

12. नगेन्द्र : हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद.

13. नवल नन्द किशोर : हिन्दी आलोचना का विकास.

14. प्रेमधन : प्रेमधन सर्वस्व, द्वितीय भाग.

15. पाण्डेय मैनेजर : साहित्य और इतिहास दृष्टि .

16. प्लेखानोव जी.वी. : आर्ट एण्ड सोसल लाईफ .

17. बोड़ा श्री रामचन्द्र : साहित्य की परिधि.

18.	मार्शल हर्बट	:	मायकोवस्की एण्ड हिज़ पोइट्री.
19.	मुक्तिबोध गजानन्द माधव	:	नई कविता का आत्म संघर्ष और अन्य निबन्ध ।
20.	रणजीत	:	हिन्दी की प्रगतिशील कविता
21.	सं. राय गुलाब स्नातक विजेयेन्द्र	:	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
22.	वाजपेयी नन्द दुलारे	:	आधुनिक साहित्य.
23.	वाजपेयी नन्द दुलारे	:	नया साहित्य नये प्रश्न.
24.	वैश्य प्रभुलाल डी.	:	डा. रांगेय राघव के उपन्यासों में युग चेतना ।
25.	शर्मा नलिन विलोचन	:	साहित्य का इतिहास दर्शन.
26.	शर्मा रामविलास	:	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना.
27.	शर्मा रामविलास	:	प्रगति और परम्परा.
28.	शर्मा रामविलास	:	प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें.
29.	शर्मा रामविलास	:	संस्कृति और साहित्य.
30.	शर्मा रामविलास	:	स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य.
31.	शुक्ल रामचन्द्र	:	चिन्तामणि, द्वितीय-भाग,
32.	शुक्ल रामचन्द्र	:	हिन्दी साहित्य का इतिहास.
33.	सिंह उदयभानु	:	महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग.
34.	सिंह चन्द्रबली	:	आलोचना की कुछ समस्यायें और हिन्दी आलोचना.

35. सिंह नामवर : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ.

36. सिंह नामवर : दूसरी परम्परा की खोज.

पत्रिकाएं

1. "आज"
2. आलोचना
3. साहित्य सन्देश
4. नया सवेरा

शब्द कोश

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2.
2. मानक हिन्दी कोश, प्रथम खण्ड.

JAWAHARLAL NEHRU UNIV. LIBRARY

.....